भूमिका बाँध रहा हूँ !

यह मेरा पहला कहानी-संग्रह है। इसमे मेरी सन् ३७, ३८ और ३९ तक की कहानियाँ है। मैने सन् ३५ मे लिखना शुरू किया था— 'बालक' मे। 'बालक' तब श्री शिवपूजन सहाय के संपादकत्व मे निकलता था। सन् ३६ मे मेरी पहली कहानी 'भारत' मे छपी थी। तभी से मै नियमित रूप से वयः प्राप्त (!) लोगो के लिए लिखने लगा। ये कहानियाँ और कुछ और भी जिन्हे मैंने संग्रह मे देना ठीक न समझा, सरस्वती, चाँद, माधुरी, विश्वमित्र, हंस, कहानी, जीवनसखा, भारत, योगी, जनता, विचार, सचित्र भारत आदि पत्रो मे छपी। मगर आसानी से नही, काफी टक्करे खाकर। पर अब मुझे लगता है कि यह मेरे हक़ मे बहुत अच्छा हुआ। इसमे सन्देह नहीं कि उस वक्त जब कोई कहानी कही से लौटकर आती तो मेरा पाव भर खून जल जाता ; मगर आज मुझमे इतनी अकल आ गयी है कि शुरू के दिनो की टक्करो को वरदान के रूप मे लूँ। उन्हीं के कारण शायद मुझे इतनी ताकत मिली कि आज भी कलम घिसता जा रहा हूँ। इसलिए जहाँ मै उन संपादको का आभार स्वीकार करता हूँ जिन्होने मेरी इन आरंभिक रचनाओ को छापकर मेरा उत्साह बढ़ाया (जिसके बिना भी किसी का काम नहीं चलता), वहाँ मै उन संपादको का ऋण भी स्वीकार करता हूँ जिन्होने मेरी रचनाएँ लौटाकर मुझे विकास के पथ पर आगे बढाया। मै जानता नही, लेकिन मेरा अनुमान है कि जिस पौदे को उगने के लिए कडी धरती नहीं फोड़नी पड़ती, उसकी जड़ मजबूत नही होती।

ये मेरी पहली कहानियाँ है, यह बात इसलिए नही कही गयी है कि

इससे समीक्षक-पाठक का हृदय पसीज उठे। यह केवल एक तथ्य है, जिसका उल्लेख आवश्यक था।

यह कहानी-संग्रह आपके सामने रखते हुए न तो इस झूठे विनय से मेरे कंधे टूटे जा रहे है कि इन कहानियो मे कुछ नही है (क्योकि तब किस मुँह से मै आपसे दो रुपया खर्चने को कहूँगा!) और न यह झूठा दर्प ही मुझको मोहाच्छन्न कर रहा है कि गुणीजन इन कहानियो को पढकर ठगे-से रह जायेंगे। मै अच्छी तरह जानता हूँ कि ऐसा कुछ नहीं होगा।

कहानियाँ अच्छी है या बुरी, इसका निर्णय तो आप ही करेंगे। मै उसके सम्बन्ध मे क्या कहूँ। अपने दही को कोई खट्टा नहीं कहता, यह कहावत तो आपने भी सुनी होगी। मै जब कुछ तटस्थ होकर (यानी जितना हो सकता हूँ) इन कहानियो के बारे मे सोचता हूँ तो इनमे कुछ कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती है, कई काफी सामान्य लगती है, रद्दी एक भी नही लगती। संभव है, आपको ऐसी भी कोई मिले। मुझे आश्चर्य न होगा। टेकनीक के कुछ नये प्रयोग मैंने करने चाहे है, बात भी कुछ नयी कहनी चाही है। पता नहीं, कामयाबी मिली या नहीं।

दो सौ पन्नो की किताब के लिए इतना आत्मविज्ञापन काफी है, ज्यादा होने से आपको अजीर्ण हो जायगा जो मेरे लिए ठीक न होगा। इसलिए बस।

बाकी सिनेमा के हैंडबिल की भाषा मे, पर्दे पर देखिए।

—लेखक

क्रम

जीवन के पहलू

हम रखेल

मानो अपनी अनहोनी मदिरता से चौका देनेवाले किसी सपने को देखकर ठिठक गया हूँ—

अभी अपने गाँव के फाग से लौटकर आया हूँ। रग—अबीर—गुलाल—कीचड़।

और मिला हूँ रजेसरी से, जो नारी है और महेसरी से, जो नर है और नन्देसरी से जो रखेल है, यानी नारी नहीं, मानव नहीं, दोनों के बीच एक अधकचरा समझौता।

रजेसरी, महेसरी, नदेसरी और मैं।

■ ■ ■

हमारे गाँव का पुरातन क़ायदा है कि कुछ ख़ास त्यौहारो पर आसपास के जिले-तहसील के जो लोग आ सकते हैं, आते हैं।

रजेसरी, जो कैशोर्य से उछलकर सीधे मातृत्व में जा ढेर हो गयी

है, जिसे खुद अभी आचल की ओट चाहिये और जो अपने पति के घने बालवाले सीने मे मुँह धँसाने के बजाय, माँ के वक्ष मे लग जाना चाहती है। ऐसी रजेसरी। सात बरस उसकी शादी को हुए हैं; अब वह इक्कीस की है, कुछ माह कम।

महेसरी, जो पेशकार होने की आकाक्षा के झूले मे बचपन से अपने को झुलाता रहा है अब तक; पहले दुकड़हे चश्मे और सरकडे की क़लम से, अब तेल में चिपचिप जूते और चीकट कमीज़ से। पर व्यक्ति बदला नहीं है। वैसा ही है, अपने शिखर से चार हाथ दूर है, मुख़्तार का मुहर्रिर है। पेशे से लगा हुआ है, शहर मे रहता है, वहाँ के क़ायदे-कानून का जानकार है, गाँववालो का राजा है। चाहे तो उन्हे सलाह दे सकता है, या अपनी नफरत से उन्हें पीस सकता है। पर इन औज़ारों का इस्तेमाल वह कम करता है।

और नन्देसरी..... तो रखेल है। यानी उसका व्यक्तित्व उसके पास कहा, शरीर है; और शरीर में भी तो एक निकम्मा अश होता है, एक कारगर — निकम्मा अश कारगर अंश के लिए ईंट गारा है। हाँ तो जब केवल शरीर है तो रखेल का शरीर उघाड़ना कापुरुषता है। नारी का शरीर तो उघाड़ा भी जा सकता है, यहाँ तक कि मोह के साथ। पर रखेल का नहीं। मुझे डर है, विकृति के साँचे मे पीसे जाते हुए उसके अंगो पर मेरी आख से कहीं लोहू न टपक जाय। वह काठ भी तो नहीं है, नहीं तो कुर्सी-मेज़ की तरह उसकी भी रूपरेखा शौक़ से दे सकता था। वह तो मूर्त चीत्कार है, पर देखो, तो काठ, गहर, ठक्-सी, भावहीन, बेबसी की बेबस दलील।

ये है, हम सब—आस-पास के चार-छः ज़िलों में झरबेरियो की तरह छिटके हुए। दो दिन को राग रग मनाने को साथ आ रहे हैं।

कितना गाया, रसिया गाने, नवेली-भौजाई-मन मोह-लियो री। कितना रंग उछाला, काला, पीला, गुलाबी, बैंजनी, टेसू और कुछ बेरंग के रंग। बड़ा रस लिया। मुझे बड़ी खुशी हो रही है कि मन का सौदा करना भूला नहीं हूँ। अपने को दिया, दूसरे ने लिया स्नेह। मानो कहीं एक ऐसे अजाने टापू पर जहाँ सभी अमित्र हो, आधे दर्जन आदमियों का एक गुच्छा एक दूसरे में समा जाने को आतुर हो। हममें से कोई अभी दादी की भूतवाली कहानियों को भी नहीं भूला है। जब कि बचपन में हम भूतों से डरकर अपनी भाभियों और बड़ी ब्याहता बहनों, बाल-पने में ही, उभरन में ही, श्वेत वैधव्य को ढो ले चलने वाली फूफियों से लिपटकर भूत को ललकार देना चाहते थे, उसे ताल ठोंक चुनौती देना चाहते थे। भावनाओं का वह श्लथ भार अभी भूला नहीं है, जिसे समझने का अवकाश आज मिला है। आज, जब जीवन की चौहद्दी पर निकम्मेपन ने संगीने गाड दी हैं। उन कहानियों के भूत तो बड़ी कसरत से आज भी यथार्थ में मिलते ही रहते हैं, बड़े-बड़े खपरे जैसे दाँत वाले, माथे पर मेंढे की तरह सींग वाले, आदमी के खोपड़े के तसले लिये हुए, नई जर्मन सिलवर की कटोरियों जैसी चमकती, डब्बे जैसी आँख वाले, डरावने भूत। पर अब वे व्यक्ति तो कल्पना से भी बाहर जा पड़े हैं जिनसे लिपट, जिनके बूते हम इन भूतों को ललका-रते। कुछ यही कमी पूरी करने को हम सब बचपन के साथी कुछ दिन साथ रह लेना चाहते हैं।

और परसों रात होलिका जली थी। लकड़ी के कुन्दे अब भी सुलग रहे हैं, धुँआँ दे रहे हैं, भक्तों को राख दे रहे हैं, अब भी, यानी जब हम सभी रजेसरी, महेसरी, नन्देसरी, मैं, दूसरी-दूसरी सवारियों पर चार दिशाओं को, तम्बू-खेमा उखाड़ कर चले जा रहे हैं—भूतों से पैंतरे-

बाज़ी करने, अकेले ही, जब तक सामूहिक शकल मे ऐसा करना हम सीख नहीं लेते।

और नदेसरी के लिए पालकी खड़ी है। दो कहार जो बेशर्मी में साव की कमी पूरी करते हैं। और नंदेसरी क्या कहे, उसके पास छिपाव क्या, टट्टी कहाँ। अनमनी वह, जो मुँह में जैसे राख लेकर पालकी मे उठँगकर बैठ गई है।

महेसरी भी चला गया है। रजेसरी अपने पति का इंतज़ार कर रही है।

■ ■ ■

एक साल कुछ बड़ी भोंडी जल्दी से बीत गया है। बड़े कारणवश मैं अबकी काफी जल्दी पहुँच गया हूँ। देखता हूँ—जैसे एक लौकी लेकर कोई उसमे बबूल का काँटा बार-बार गोदे और उसे चलनी कर दे, ऐसा लगता है। आने के साथ ही कुछ ख़बरे मिली हैं—भूतों से पैंतरेबाज़ी करने जो गये हैं उनके नाम भी तो दर्ज हैं। सुना रजेसरी का शौहर मर गया। मर गया, अच्छा हुआ, उसमे क्या। पर जिसमें उसका मरना अखरे, इसका वह जनमजुग्गी इन्तज़ाम कर गया है। मरने के पहले, न जाने किस गोलमाल से उसके दो बच्चे छीनकर उसकी ननद की हिफाज़त में रख दिये गये हैं, और बाँट-बखरे में रजेसरी के हिस्से उसकी सबसे छोटी, दूध-पीती पियरिया पड़ी है। जायदाद का कोई हिस्सा भी वह रजेसरी के लिए नहीं छोड़ जा सका है क्योंकि उसे शुबहा हो गया था कि रजेसरी और उसके देवर में पुरानी साठगाठ है! निकम्मा वह। लबार वह।

देखा, वह चली आ रही है। सफेद।

पूछा—रजेसरी?······और शब्द मुँह में बन ही न सके, ज़रूरत भी न थी।

: हम रखेल :

सुना नन्देसरी को उसके मालिक ने ठोकर मारकर निकाल दिया है क्योंकि उसे गर्भ रह गया। वह रखेल कैसी जो यह इन्तज़ाम भी न कर सके।

देखा नन्देसरी अपनी तीन-चार माह की कमज़ोर लड़की लेकर चली आ रही है। कुछ बात तो करनी ही थी। उसके हाथ मे पिटारी देखकर पूछा, क्यों नन्दी उसमे क्या है ?

नन्दी ने लापरवाही से कहा—बिंदी-टिकुली-मिस्सी···खोला, तो पीपल के गोदे।

नन्दी 'अब उसमे यही रहता है' कह हँस पड़ी। व्यथा का एक समुंदर जैसे पछाड़ खाकर गिर पड़ा।

और जब मैंने बताया कि मालिक से झगड़ पड़ने के लिये मै नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया गया हूँ, तो उसे बड़ा अचरज हुआ। राजनैतिक-वाजनैतिक बातें वह क्या जाने पर उसे अचरज यह हुआ कि रखेल, रखेल ही है, चाहे वह मुझ-जैसा पढ़ा-लिखा और मुझ-जैसा मर्द ही क्यों न हो!

और हम एक-दूसरे मे समवेदना खोजने ही लगे थे कि नदेसरी ने बात बदल, महेसरी की बहबूदी की शुभचिन्तना की क्योंकि हममे से वही विकास के रास्ते पर चल सका है, हम मे से—मैं और रजेसरी और महेसरी और नदेसरी, जो सब नर नहीं, मादा नहीं, मनु के वशज नहीं, रखेल हैं। नदेसरी की आँखे डबडबा आई थीं।

मरुस्थल

जहाँ पर अपनी बेशरम आदत से लाचार चोखे और मँगरू इस वक्त बैठे हुए हैं वह एक अंधी गली में और भी अंधी कोठरी है। उस कोठरी में एक कुप्पी का टिमटिम प्रकाश है जो अभी हाल ही में पीली पुती हुई दीवार पर गिरकर विकृत हो रहा है। इस रोशनी की ज़रूरत सिर्फ शराब की मात्रा समझ लेने के लिए पड़ती है। वहाँ उस बेहद खुरदुरे फ़र्श पर कुछ टूटी कुरसियाँ पड़ी हुई हैं जिनकी टाँगे ऊँची-नीची हैं। कुछ अलमुनियम और चीनी के बर्तन, लाल-नीली खाली बोतलें, कुछ पतली चौड़ी हड्डियाँ, एक काई-लगी सुराही, एकाध टूटी रकाबी वग़ैरः कुछ चीजें एक कोने में तितर-बितर छितरी पड़ी हैं। साथ ही उस कमरे में ऐसी एक सीलन की बदबू है जो नये आगन्तुक को पागल कर देती है, पर वही, कड़े पियक्कड़ों—जिनके रुखड़े, मिट्टी में गुथे बाल, चेहरे की नपुंसक भीषणता, खूँखार बेजान बुझी हुई आँखें, बोतलों

की सख्या, नीली उभरी नसोवाले हाथ, चुसे व्यक्तित्व इसके साक्षी हैं—की वेतरतीव मस्ती मे चार चाँद लगाती है, और वे उसे शराव की गध का ही टुकडा मानते हुए सदियो से चले आते हैं।

चोखे और मँगरू ने दो अद्धे मँगाकर सामने रख लिये जिसमें ढाढस रहे, और चना-चवेना के लिए सिर्फ आध पाव, तेल की काली करके भूनी हुई कलेजियाँ भी रख लीं... चोखे ने उस हरामखोर से कितना कहा कि एक गुर्दा भी रख दे, पर ससुरा न माना तो न माना! भगवान जल्दी ही पूछे!

कलवरिया का दढियल मालिक देर का कुल्हड रखकर चला गया था। इस दम दोनों झगड रहे थे कि अधिक जली हुई कलेजियाँ कौन लेगा। चौकोरवाली चोखे को मिलेगी कि तिकोनी?

वे दोनो जब अपना सूखा और वेसुरा कुल्हड चढ़ाकर, अपने अधमरे सुरूर को चीरकर देखते थे तो उन्हें, उनकी जहालत को, लगता था कि इस सारी मुफलिसी का कारण भगवान् है; और वहाँ बाँस की खुरदुरी कुर्सी पर बैठे हुए वे उसे, बिना किसी ख़ास ज्ञान-अज्ञान के खूब पुख्ता तौर पर बुलन्द आवाज मे जली-कटी सुनाते थे; और उस अँधेरी, सडी हुई, वदबूदार कोठरी में एक अटपटा खोह आ बैठता था। वहाँ पर सृष्टि को वेधकर अनेकों गालियाँ उठती थीं, उठकर उन कुञ्जो में समा जाती थीं और बुल्लो की तरह फिर-फिर उठती थीं।

× × ×

जब चोखे और मँगरू कलवरिया से निकले वे वेहद पी गये थे और इतना कि उनकी आँखे लाल अङ्गारा हो रही थीं। उनकी चमडी पर कालिख-सी पुती हुई थी और वे अपने मे न थे। वे एक पैर आगे

बढ़ाकर दूसरा रख न पाते थे और लड़खड़ा जाते थे। वे मकान की भीतों से टक्कर तक खा जाते थे और उनका बदन छिल जाता था, और सारे सफर में वे एकाध बार अंशतः नाली मे भी समा जाते थे। इसलिए उनकी गति बड़ी धीमी थी और पन्द्रह मिनट के कोठरी से निकले हुए वे अब तक सिर्फ उस कलेजी की दुकान तक आ पाये थे जिसका ज़िक्र पहले हो चुका है और जहाँ से उन्होने इतने दिन उधार खाया था कि उसने कलेजी देना बिलकुल बन्द कर दिया था।

जब वे अपने-अपने घर पहुँचे दीया जलने का वक्त हो-हो आया था और चोखे के यहाँ एक पैसे के मिट्टी के तेल के लिए तोबा-तिल्ला मचा हुआ था। गोया बहुत बड़ा हादसा हो गया हो।

मा छः साल के बच्चे को मार-मारकर राह अगोरने को भेज रही थी—देख, तेरा मुआ बाप पलटा कि नहीं।

वह 'मुआ बाप' जब लौटा, उस पर सतो का-सा वैराग्य खेल रहा था।

उसने बग़ैर किसी तूल-तमाल के टेट मे से सारे पैसे निकालकर पत्नी के हाथ मे यो डाल दिये जैसे ठीकरे हो और अब तक हाथ मे भारी हो रहे थे। उसने एक मचिया खीच ली और बैठ गया, विपएण।

पत्नी ने मुँह की ओर निहारा और ताड़ गई कि कुछ पैसे कुल्हड़ो मे बिला चुके हैं, पर उसने मुँह न खोला और समझौते की थाती लेकर दूसरे कामो मे जुट गई। चोखे वहीं मचिया पर बैठा रहा। उनके उस बेताल, बेसुर के चक्र मे कोई रुकना-पलटना न था और वह चक्र अनवरत चल रहा था, एक ऐसे पथ पर जहाँ विषाद, अवसाद, प्रसन्नता, उल्लास, रंग, नाटक कुछ भी नहीं, और जो खाई-

खड्ड हैं भी उन्हे भी सपाट और समथल मानते हुए ही आगे बढ़ना हो सकता है।

■ ■ ■

उनकी उस ओछी गृहस्थी का भी एक रुचिकर व्यक्तित्व है।

एक फूहड़ मकान है जिसके प्राणी उससे भी अधिक फूहड़ हैं। उस मकान का फर्श अत्यधिक फुसफुसी मिट्टी का है। मकान पर एक फूस का छप्पर है, जो देखने की चीज ज्यादा है और काम की कम क्योंकि उसमे जो कुछ तिनके थे भी, उनका बड़ा अश लोगो की चिलम सुलगाने में खेत रहा। जो ही आया एक मूठा निकाल ले गया।

एक कोने में एक खूब पेवने लगी हुई छतरी टिकाकर रखी है। उसके पास ही मोटर के टायर का टुकडा पड़ा है, जिसे बच्चा उठा लाया है। कमरे भर मे कपडे टाँगने की तीन रस्सियाँ बँधी हैं। कोई भी रस्सी पूरी नहीं है और किनारा, सुतली और बाध के मेल से बनी है। एक अलगनी से एक ढोलक टँग रही है जो इस वक्त ढीली पडी है क्योंकि छः साल से उसे बजाने की नौबत नहीं आई। उसी ढोलक पर एक मजीरे का जोडा रखा हुआ है। वहीं अलगनी पर चोखे का पाजामा रखा है जिसका आगा लाल चारखाने का है, पीछा नीली धारियों का और दोनों टाँगे मटमैली सुफेद हैं। वहीं चोखे की एक मैली-कुचैली टोपी रखी है। एक कोने में एक झाडू रखी है जिसकी बहुतेरी सींके झड चुकी हैं। एक जगह धरन से साइकिल का एक विगलित ट्यूब लटक रहा है। कमरे के बीच छः साल के लड़के का खटोला है। उस खटोले पर इस वक्त खीरे बिखरे पड़े हैं, जो सूख गये

हैं। वही एक तीन पैसेवाली गेंद रखी है जिस पर अंग्रेज़ी का 'K' लिपा-पुता है। वही एक, एक-पैसेवाली सारंगी है और एक बिगुल, जो अब लाख फूँकने पर भी नहीं बोलता।

माँ की गृहस्थी तीन वर्ग गज़ में विकीर्ण है। उसमें हल्दी, सोंठ, सेंधा नमक, सिल (जिसको खुदवाने की सख्त ज़रूरत महसूस की जा रही है), बट्टा सभी है। वहीं एक पीपल के पत्ते पर चूना और कुछ खड़ी, खदरी हुई सुपारियाँ रखी हुई हैं, जिन्हें तबियत ऊबने पर अधेड़ दंपति खा लेते हैं। चोखे कहीं से बिसकुट का एक बड़ा डब्बा पा गया था। वह अब एक आले में रखा है। एक ताक़ पर एक लाल-नीली पेंसिल रखी है, जिससे दस साल के बड़े लड़के ने आस-पास ख़ूब खेंचा रखा है—बेसिर-पैर की हजारों रेखाएँ। पास ही एक तवा रखा है जिसके बीच छेद है और जो अब माँ की गृहस्थी से काला-पानी है। एक लकड़ी का मोटा लट्ठा रखा है। पास ही एक कुल्हाड़ी रखी है।

दोनों बच्चे आपस में लड़ रहे हैं और इस तरह ख़ाँव ख़ाँव करते हैं जैसे बंदर के बच्चे हों। माँ ने हाँडी में पकाने को कुछ रख छोड़ा है और वह इन छोकरों की लड़ाई पर खीझ रही है। एक संग ही लड़कों को गुर्राकर चीख़ पड़ती है और फिर पति की ओर देखकर—कैसे हो? दो बच्चे भी नहीं सँभाल पाते? कैसे बैठे हैं जैसे बुद्ध भगवान् हों।

इस पर उसे एक विचार सूझता है और वह कहती है—हाँ नहीं तो। जैसे बुद्ध भगवान् हों। नहीं, बुद्ध नहीं, बुद्धू।'

और उसने चोखे के मुख की ओर देखकर चाहा कि समझौते के तौर पर उसे हँसाकर हँस दे। पर वह ठिठक जाती है और चोखे के

मुँह का गिरा हुआ, रुक्ष भाव देखकर हँस नहीं पाती। घर में एक खा डालनेवाली नहूसत फैली हुई है। चोखे की पत्नी उसका सुखद अन्त करने को उतना ही उत्सुक है जितना दोनों लड़के एक दूसरे को काटने को। पर चोखे की मुद्रा को देखते हुए वह पाती है कि ऐसा सम्भव नहीं है।

और इस सारे फैलाव और संकोच संघर्ष, कोलाहल, अनैक्य के बीच, अनसुथरे फूहड़पन् से बोझिल वातावरण मे उसके पास कहने को कुछ भी नहीं है।

चोखे चुपचाप बैठा है, उसी मचिया पर। और कितने ही घण्टे यों ही बीत जाते हैं। बीत जाया करते हैं। बीते न तो हों क्या?

पति-पत्नी

दौड़ती रेल मे एक श्यामवर्ण पति-पत्नी अपने तीन बच्चों के साथ चले जा रहे हैं। रात का सफर है, तीसरा पहर। बच्चे सो चुके हैं। डिब्बे में निस्तब्धता है। केवल पति-पत्नी धीमे स्वर में कभी-कभी बात कर लेते हैं। पति मितभाषी है, कारण वह उधेड़बुनवाला आदमी है और अपने में ही समाया रहता है। उमर है तीस साल। पति मित-भाषी है, पत्नी को अजब-सा लग रहा है। वह बहुत बोलने को आतुर है। पर उसकी आतुरता के लिए कहीं कोई बहाव न होने से वह खिन्न जान पड़ती है।

संयोग की बात, गाड़ी अभी पहुँची एक स्टेशन पर, जो देखने में बड़ा मालूम होता था, क्योंकि वहाँ पर थीं सूरज से होड़ करनेवाली बिजली की बत्तियाँ। गाड़ी खड़ी होने के साथ एक घनी दाढ़ी-मूछोंवाला आदमी, जो देखने मे ग़रीब और दग़ाबाज़ दोनों ही मालूम होता था,

डब्बे मे सवार हुआ। लम्बा, छरहरा, पुष्ट स्नायुओंवाला जिस्म; गहरी धँसी हुई आँखें और स्याह रंग।

पत्नी ने उसे देखा और जैसे बिजली कौंध गई। बाहर झड़ी लगी हुई थी और यह आदमी भीगता हुआ डब्बे मे दाखिल हुआ था। वह जल्दी में अपना सामान इन्हीं दम्पति की बर्थ पर रखकर वही बैठ गया।

पत्नी के अन्दर तूफान का एक दौर शुरू हुआ—'उँहुक्, यह वह कैसे हो सकता है! हरगिज नहीं। उसके तो कभी दाढ़ी थी भी नहीं। दूसरे यहाँ, इस जगह, इस तरह—नहीं यह कभी नहीं हो सकता। पर कैसे कहें, चेहरा-मोहरा तो एकदम उसी-सा है, दाढ़ी से कहीं असलियत छिपती थोड़े ही है, और वह रहा दाये कानवाला वड़ा-सा मसा, उसकी ख़ास चीज़। इसे लेकर मैंने कितने दफा चुटकी नहीं ली है! लेकिन आज इतनी विपरीत शक्ल में, ऐसे विपरीत स्थान मे, घनी बारिश में यों अचानक मेल हो जायगा! कौन जाने उसी से मिलता कोई दूसरा हो, कोई मोहर तो लगी नहीं है? लेकिन आँखें तो धोखा खाती नहीं जान पड़तीं। अरे जाने भी दो—पर जाने कैसे दूँ? यो अचानक फिर मेल हो जायगा, यह तो कभी हमने न सोचा था, विश्वनाथ। उस वक्त भी नहीं जब तुम मुझसे आखिरी बार मिलकर परदेश चले गये थे। आओ, परिचय तो लूँ ही।

यह सब घूम गया, पलक भाँजते। पति अब तक ऊँघ-ऊँघ कर गिरा जा रहा था। पत्नी यानी रेवती ने एक ओर पति से लेट जाने को कहा और दूसरी ओर मुख़ातिब हुई आगतुक की ओर। यह पुरुष भी शायद कुछ देर से अपनी घनी भौहो के बीच से इस नारी को निहार रहा था। चकित। स्तंभित। थकित। उच्छ्वसित।

रेवती ने आगन्तुक से झिझकते हुए पूछा—"माफ कीजिएगा। आपका चेहरा . "

आगतुक ने उल्लसित होकर, फिर अपने ही उल्लास पर स्वय झेप कर, सयत होकर कहा—"हाँ, हाँ। ठीक तो। तुम रेव... "

रेवती ने सिर झुकाकर नौ बरस के अपने पुराने साथी को उत्तर दिया और कुछ काल तक विभ्रम मे चुप रही। फिर कहा—"मिले खूब। तुम यहाँ ?"

जब रेवती का विश्वनाथ कह रहा था "न पूछो" रेवती झक-झोरकर जगा रही थी पति को। परिचय कराने के लिए। अपने पुराने साथी विश्वनाथ से। पति जागा, आँख मलते हुए, बुरी तरह निंदासा, बदन तोड़ता, बाल सँभालता हुआ। परिचय : पति विश्वनाथ से मिलकर बहुत ख़ुश हुआ हे लेकिन विश्वनाथ पति से मिलकर गड़बड़ी मे पड़ गया है। नहीं जानता क्या कहे। वह रेवती का पति जो है। रेवती का...उस रेवती का . लेकिन वह कोई वेहूदा बात अभी नहीं सोचना चाहता। अभी तो वह आज़ाद होकर बात करेगा, मुलाकाते बात करने के लिए ही होती हैं।...लेकिन यह भी खूब ही है कि रेवती के पति को नीद चैन नहीं लेने देती। चलो दायित्व घटा। उसी वक़्त पति ने कहा रेवती से—"मैं तो सोता हूँ, जाग नहीं पाता।" फिर मुस्कराते हुए, विश्वनाथ से—"मुझे आप माफ करेंगे।" विश्वनाथ को न जाने क्यो, उसके सोने से तनाव कम होने की आशा बँधती है और वह बड़ी आज़िजी से कह जाता है—"नहीं नहीं। ठीक तो है। इसमे कौन-सी बात है। ठीक तो है। आप सोये न होंगे। फिर सफर की थकान..."

रेवती का पति सो गया। रेवती उठ बैठी। विश्वनाथ भी कान थोड़ा और पास ले आया। अब वे और भी निश्चिन्त होकर बोल

सकेंगे, बात कर सकेंगे। दो बहुत पुराने दोस्त मिले हैं आज। सो भी अचानक। बाँध अगर ढह चले, तो अचरज क्या। लेकिन रेवती का पति सो ही रहा है, सो रहा है ..।

बाहर उसी तरह पानी बरस रहा है, उसी तरह अँधेरा है, उसी तरह बिजली काँपती है। दोनों साथियों के पास अगणित सवाल पूछने को हैं। कितने सवाल इन नौ सालों में कुकुरमुत्तों की तरह नहीं जमा हो गये हैं? विश्वनाथ के पास कम, रेवती के पास ज़्यादा। विश्वनाथ तो सवाल पूछने में नहीं रहता। वक्त की बरबादी। वह तो आगे बढ़ जाता है। रेवती अलबत्ता पीछे फिर-फिरकर झाँकती है। अँधेरे मे आँख गडाती है। रोशनी न होने से खीझती है। लेकिन विश्वनाथ है तो रोशनी देने के लिए। इन चार घंटों मे जितनी रोशनी चाहो, वह मुक्त होकर दे सकता है। फिर तो वह अपने स्टेशन पर उतर जायगा ही। अब जब मौका होने पर वह पीछे फिरकर सब कुछ देख लेना चाहती है, तो पाती है देख सिर्फ एक धुँधला बिन्दु—नौ बरस पहले की एक रात का तीसरा पहर, बारिश, बिजली, हवा तूफान। गाँव के तालाब के किनारे दो व्यक्ति। इससे आगे रेवती चेष्टा करके भी नहीं देख पाती। और यह विश्वनाथ तो आज और उलझन ही पैदा कर रहा है। अचकचाहट। न जाने कैसा है यह?

साफ बात यह है कि दोनों को फ़ुर्सत नहीं है। दोनो इन अमूल्य क्षणों मे भी अपनी-अपनी तसवीरों मे उलझे हुए हैं, बेतरह; सिलसिला ख़त्म ही नहीं होता।

विश्वनाथ सामने की बर्थ की इस नारी को एक दशाब्दि पीछे ढकेलकर देखना चाहता है।

रेवती, एक युवती। निखरा हुआ यौवन। झूलते हुए बाल।

ताज़ा मुखड़ा। तालाब से नहा कर लौटते हुए विश्वनाथ से उसकी अकसर की मुठभेड़।

रेवती की माँ का परिताप। मजबूरी। रुसवाई। विश्वनाथ भी भला इसे क्या कर सकता है? बात ज्यादा आगे बढ़ गई है। सभी उनके बारे में जानते हैं। कोई छिपाना नही हो सकता। रात को उनकी मिलने की जगहो में अब पहरा बिठाला रहता है। रेवती घास-फूस की तरह बढ़ रही है। उसकी शादी होना जरूरी है। पर विश्वनाथ से नहीं। यद्यपि बात बहुत आगे बढ़ गई है। न रेवती, न विश्वनाथ ही मुँह दिखाने योग्य हैं। पर विश्वनाथ तो बेहया है और है पुरुष। इतनी दलील बहुत है। पर रेवती—सारी परीशानी तो उस पर है। उसने गलती की। भोगे। भोग तो रही ही है। पर विश्वनाथ भी एकदम अछूता नही रह सकता। उसे भी नौकरी छोड़नी होगी। छोड़नी होती है। विश्वनाथ गाँव छोड़ कर आज रात चला जायगा। पन्द्रह मील पर स्टेशन है। करीब करीब पैदल ही जाना है। रेवती से मिलेगा। मिला। कुछ ज्यादा कहना-सुनना नहीं हो सका था। चुप्पी ही चुप्पी मे दोनो बहुत कह जाते हैं। नारी की मजबूरी।

विश्वनाथ चला गया। उस रात। अगले सगुन में योग्य वर से रेवती की शादी हो जायगी। घास उगते देर नही लगती। गडे मुर्दे उखड़ेगे कैसे? उखड़ कैसे सकते है? हमेशा मुर्दा थोड़े ही बने रहेंगे। हो जायेंगे राख और पत्थर। तब? सब ठीक है। रेवती की मा का परिताप? उसकी बात दूसरी है। ...

एक बरस और चला गया है। रेवती की शादी हो गई है। लेकिन इस बिन्दु पर रेवती दर्द अनुभव कर रही है। उसकी मा बिदाई की रात मर जो गई थी। क्योंकि उसके जीने की सार्थकता अब नहीं है। क्योंकि

वह रेवती के लिए अब सपूर्ण इन्तजाम कर चुकी है। जीना क्योंकि अनर्गल है। इसलिए। पर रेवती दायित्व इतने सहज रूप में भुला नहीं पा रही है। न अभी और न कभी। इसलिए दर्द। नोकीला। पैना।

रेवती की शादी हो गई। योग्य वर से। उचित रूप मे। और चाहिए ही क्या ? लेकिन वह पिछले प्रेम प्रसग के बारे में कुछ नहीं जानता। सो भी अच्छा ही है। जानने से शोक होता है। और वह हो भी तो गया पुराना किस्सा।

खिड़की के पार के दौड़ते हुए अँधेरे से रेवती की आँख उठकर पहुँचती है अपने पति पर, जो हाथ का तकिया लगाये सो रहा है। निर्द्वन्द्व। बेखबर। उसका पति। फिर विश्वनाथ पर, जो अजीब सूरत बनाये उस पल सोच रहा है—रेवती ! आज विवाहित। वह देखो उसका पति। वह देखो उसके बच्चे, आज यों। जीवन-मीनार की सीढ़ियो को वह अकेला ही तय करने का आदी हो गया है। किसी को वह हक देने को तैयार नहीं है। यह सफर करने में जो यकायक मिल गई है सो ठीक ही है। और बस। फिर वह सोच रहा है कि रेवती का सौंदर्य अब ढल रहा है। आकर्षण वह नहीं पाता और उसकी ओर बहुत गौर से निहारता है। रेवती विकल बैठी है। एक पहेली, अपने तईं। न जाने क्यो ? वह अपने मन से परीशान है। मिर्च का तीतापन उसे अपनी ओर खींचता है।

रेवती आज अपने तीन बच्चो और ढले हुए सौंदर्य के बावजूद दस साल लाँघकर वहाँ पहुँच जाना चाहती है जहाँ उसमें मार्दव है और यह विश्वनाथ उसके आकर्षण की डोर मे जकड़ा हुआ है। उसकी शादी अभी नहीं हुई है। और यह है-उसका गाँव।

उसकी साँस तेज़ चलने लगती है।

तभी विश्वनाथ कहता है—"तुम तो बहुत बदल गई, रेवती !"

रेवती क्या कहे। उसके पास कहने को क्या है ? जो है सो विश्वनाथ तो देख ही रहा है। फिर भी—"और तुम ? यह दाढ़ी की उलझन। पेशानी की यह शिकन, आँखों की यह कालिख ?"

विश्वनाथ दोनों फरीकों की ओर से जवाब दे डालता है—"यह तो उम्र है। वक्त। भट्ठी। शिद्दत। सुलगन।"

फिर चुप्पी। फिर बेकली। और फिर रेवती का पति सो रहा है। अजीब बात है। मानो उसे सोना छोड़ दूसरा काम नहीं है। रेवती अपने से कहती है, उसका यह सोना अच्छी बात नहीं है, कितनी बेढगी चीज़ ! लेकिन वह तो आखिर सो ही रहा है। गोया इस अजीब ढंग से वह रेवती से कह रहा है—'झिझक तज। मैं तो सोऊँगा ही।'

यहीं बात खत्म थोड़े ही हो जाती है। और बहुतेरी बातें होती हैं जिनमे से कुछ विश्वनाथ की दाढ़ी मे उलझ कर रह जाती हैं और कुछ रेवती समझ सकने की कूवत अभी नहीं रखती। और विश्वनाथ तो आगे ही देखता है। देखता है—पति सो रहा है, पत्नी आकुल है, और निस्तब्धता पहरा दे रही है। वह और आगे देखेगा। रेवती के मुखड़े पर चढ़ती हुई लाली। उसकी बुझती-सुलगती आँखे जिनमें वह कुछ पढ़ता है। पर उसकी आँख कमजोर है। उतनी दूर से वह पढ़ नहीं पाता......नज़दीक से साफ दिखेगा।

और जैसे रेवती अपने होंठ निछावर करती है, उसे लगता है कि उस क्षेत्र में जैसे एक मकड़ा अपने पंजे सिकोड़ कर एक गुदगुदी भरी चुभन के साथ डोल रहा है। रेवती का मन कुछ और होता है, न जाने कैसा......; पर मुसकराये बिना उससे रहा नहीं जाता।

■ ■ ■

: पति-पत्नी :

रेवती अपने विस्तर पर पड़ी सोच रही है।

'कल की वह शाम, आज की यह रात! उह! वैषम्य ही नियम है। जाने भी दो—चुम्बन को मान क्यों न लू? पर......!'

वह सारा इतिहास सकारना चाहती है, उद्वेग-ज्वार है। पर वह सभवतः मुस्कराने को छोड़ दूसरा कुछ नहीं कर सकती। वह नारी है। मकड़ा चाहे तो चलता रहे।

जब वह मुस्कराती है, समझदार पति किताबों के मुताबिक इसे आसक्ति का चिन्ह मानता है और अपने पौरुष पर निहाल हो जाता है। वह दूसरा क्या करे। रात भींग चुकी है। चुप रेवती गौर करके देखती है। और जिस सारी सहूलियत से उसने रेंगते हुए उन मकड़ों को खूबी के साथ झेल लिया है, उसे याद करके पसीने-पसीने हो जाती है। सर का खून माथे में उतर आता है। वह हाँफती है। रात और भींग जाती है।

फीका काग़ज़

(१)

रघुनदन ने बाहर चौखट पर से ही पुकारा—भाई सुरेश, अब तक नहीं उठे क्या ?

सुरेश ने अन्दर से ही जवाब दिया—अन्दर चले आओ न, बाहर से ही क्यों बाँग देते फिर रहे हो ?

रघुनंदन ने अन्दर जाते हुए मीठी चुटकी ली—इतना सोना न तो तुम्हारी आदत मे दाख़िल है और न हक़ मे। यह नई बात क्या ?... अदाज़ तो यही लगता है कि उनकी पोटली में बँधा-बँधा, दूसरे हीरे-जवाहरात के संग, शायद यह निराला हीरा भी आ गया ...क्यों है न ?

सुरेश को बगलें झाँकते देख जवाब दिया रजनी ने—रघुबाबू, अगर आपकी राय हो तो ये सारे बेशकीमत हीरे-जवाहरात आप की खूँट में बाँध दिये जायँ।

रघुनदन अब मुँह चुराये तो कैसे, लेकिन कुछ तो कहना ही है—नहीं भाभी, मेरी इस टाट जैसी खादी में भला ये क्या फबेंगे, तुम्हीं सोचो न ? मैं अपना दरिद्र ही भला; कौन उसका भार सँभाले ? उस काम के लिए तो मैंने सुरेश को ही चुना है। इतना ही क्यों, जब वह मुझे बीमार ही छोड़कर, हीरों की यह पोटली गले लटकाने चला गया था, क्यों सुरेश, तब भी तो उसे मेरी सहायता की चाहना नहीं हुई, तो भला आज ही ऐसा क्यों हो ?

बात यों है कि रघुनदन और सुरेश दोनों पड़ोसी हैं। दीवारें दोनों मकानों की मिली हुई हैं। सुरेश डी० पी० आई० के दफ़्तर मे नौकर है और रघुनदन एक वर्क-शाप मे। दोनो पहले एक सग ही पढ़े थे। रघुनदन दसवीं जमात के बाद कारखाने में काम करने चला गया, लेकिन सुरेश सिलसिला बाँधे सीधा ग्रेजुएट होकर रहा और उसके बाद नौकरी में दाख़िल हुआ।

सब से बड़ी दिल्लगी तो यह रही कि अभी-अभी, चार महीने भी पूरे नहीं हुए, सुरेश ने रजनी से शादी की है। रघुनदन ने सुरेश की शादी मे भाग लिया, यह शत प्रतिशत ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जहाँ तक फोटो देखने का सबध है, रघुनन्दन का हाथ, सुरेश के निकट-तम होने के नाते, उसमे सब से ज्यादा रहा है। सुरेश के साथ अकेले मे उसने अपनी होनेवाली भाभी की आँखों, गोल, मक्खन-सी कलाइयो, कुन्दन-से दमकते रग और बिल्ली के बच्चों जैसे मुँह की बड़ी प्रशसा की है (सुरेश को बुरा जरूर लगा था कि उसकी पत्नी के मुँह की तुलना बिल्ली के बच्चों के मुँह से की जाय !) और उसे ऐसी रति-सी बहू पाने के उपलक्ष्य मे बधाइयाँ भी दी थीं, लेकिन जब रति को लाने के लिए, बनारस जाने का वक्त आया, तब बेचारा बीमार पड़ गया,

और फिर सुरेश को, सब के होने के बावजूद, कैसी अकेलेपन की कुरेदन हुई, यह तो सुरेश ही कह सकता है।

(२)

रघुनदन सुरेश का पुराना सहपाठी भी है, अन्तरंग भी।

रघुनंदन किसी से कुछ छिपाता नहीं और मन मे मैल रखना भी नही जानता। इस कारण वह सबका बहुत प्रिय है—रजनी का भी। जिस दिन रजनी ने घर मे पैर रखा, पहला सवाल जो उसने पूछा, यह था—रघुनन्दन बाबू का जी कैसा है, यह पुछवा लेते तो बड़ा अच्छा होता।

उसे देखने के पहले ही, रजनी रघुनन्दन को मानों पहचानती थी और रजनी के आने के तीसरे दिन जब रघुनन्दन ने पूर्ण स्वस्थ होकर चौखट के बाहर ही से पुकारकर कहा—भाभी नमस्ते, तो रजनी को लगा कि यह आदमी युग-युग से मानो उसका परिचित है, और सदा से ऐसा ही है, चित्र के एकदम अनुरूप, सरल, स्नेही, सौम्य, उदार, अपना।

और उसी पल से रजनी और रघुनन्दन की मैत्री का सूत्रपात हुआ। रघुनन्दन ने रजनी मे एक अबोध बालिका को पाया, जिसे वह निश्शंक होकर मैत्री के लिए अपना सकता है।

रघुनन्दन मज़दूर है—साधारण कुली से थोड़ा ऊपर—और नगर की मज़दूर सभा का सभापति और प्रमुख कार्यकर्ता। लेकिन फिर भी वह सुरेश की अपेक्षा कम व्यस्त रहता है। सुरेश तो ऐसा कुछ चक्की पीसने के काम मे लगा है कि आँख उठाने तक की फ़ुरसत नहीं मिलती, सुबह ९ बजे का गया-गया, कहीं रात के ९ बजे लौट पाता है। इसी-लिए ऐसा अंदेशा था कि रजनी एक मसोसनेवाला अकेलापन महसूस

करेगी, और विशेषकर अभी-अभी जब उसका कोई परिचित भी नहीं है। लेकिन कुछ तो पुस्तकें और उससे ज्यादा रघुनन्दन का सुरेश के आदेशानुसार, दोपहर मे एक घण्टा आकर उसके पास बैठ रहना, उसकी तबीअत को बहला देता था।

रजनी उसे श्रद्धा के साथ देखती और उसकी उपस्थिति मे अपने को धन्य समझती, रघुनन्दन एक अस्पष्ट गुदगुदी के साथ उसे देखता, वह गुदगुदी जिसके अंतस् मे कलुष नहीं होता, बल्कि जो दो तरुण हृदयो के लिए बहुत स्वाभाविक है। और उसकी कोर भी पवित्र ही कहनी चाहिए, क्योंकि अपनाने या पा लेने की उस अस्पष्ट लालसा या आकुलता को जमीन बनाकर तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता, जब तक उसकी रूपरेखा निश्चित न हो जाय।

(२)

अकेला आदमी रघुनन्दन। एक दिन ऐसा हुआ कि उसकी महराजिन न आई। कोई शाम सात का वक्त था। सुरेश अभी दफ्तर से न लौटा था। रजनी की तबीअत अकेले ऊब-सी रही थी। उसने सोचा, चलो देखे रघुनन्दन बाबू आये कि नहीं। कुछ मन ही बहलेगा, कैसा खरा आदमी है।

रजनी ने अन्दर जो पैर रखा तो रघुनन्दन चिल्ला पडा—अरे कौन घर में घुसा आता है? कोई भठियारखाना बना रखा है कि बिना पूछे जाँचे.. ..

कारण, रजनी खम्भे की ओट मे थी और रघुनन्दन धुएँ में घुटा हुआ चूल्हा फूँक रहा था। रजनी कुछ क्षण चुप रही। फिर धीमे-धीमे प्रश्न के दोनो भागों का उसने उत्तर दिया—चोर; भठियारख़ाना तो नही लेकिन अपनी माँद समझकर आई हूँ।

रघुनन्दन ने अचकचाकर कहा—अरे तुम ? रजनी ? लेकिन भाई माफ करना, यह चोर की माँद तो नहीं ! यह तो रघुनन्दन बाबू की एकाकी गृहस्थी है।

रजनी ने कहा—हूँ . तभी तो चूल्हे का इस तरह फूँकना ? क्या ख़ूब है यह गृहस्थी, क्यो रघु बाबू ?

इधर रघुनन्दन कुछ अपने सवाल पर और कुछ यो चूल्हा फूँकते देखे जाने पर, लाल हो आया। मालूम नहीं, रजनी ने उसके इस भाव को देखा भी या नहीं; लेकिन वह बोली—रघु बाबू, भला इतना परेशान क्यों होते हो। लो अगर ऐसा ही है, तो मै बाहर चली जाती हूँ। लाज लगती है, क्यो ?

इस पर तो रघुनन्दन ने और दूना परेशान होकर कहा—नहीं, नहीं। मेरा मतलब यह हरगिज़ न था। तुम्हे धुआँ लगेगा, इससे कहता हूँ। खड़ी न रहो, बैठ जाओ।

रजनी ने फिर पूछा—और आप यह कर क्या रहे हैं ? महराजिन नहीं आई क्या ?

रघुनन्दन ने कहा—नहीं, आज वह बीमार....

रजनी ने बीच मे ही टोंककर कहा—तो मैं क्या मर गई थी ?

रघुनन्दन—यह क्या कहती हो, रजनी !

रजनी—कहती क्या हूँ ? ठीक ही तो है। देखो, शीशे मे ज़रा अपना मुँह तो देखो। यह भला तुम लोगों का काम है। मैं तो यह भली तरह जानती हूँ कि तुम बस हड़ताल भर करवा सकते हो।

सो इसके उत्तर मे किसने क्या कहा, यह तो लिखनेवाला नहीं जानता, लेकिन कुछ मिनटों बाद, रघुनन्दन चूल्हा ठण्डा करके रजनी

के पीछे-पीछे चला जा रहा था और साथ ही बुदबुदाता जाता था—फिजूल तङ्ग कर रही हो, रजनी।

स्नेह की उस रेशमी फाँस से वह छूट भागना भी चाहता था, और साथ ही उसमें पड़े रहना भी.. ...आदमी का पागलपन।

रघुनन्दन का एकाकीपन, रजनी को, सहज समवेदना के कारण, अपनी ओर बुलाता। उसका मातृत्व इस निचाट सूने व्यक्ति को अपने वत्सल क्रोड़ में छुपा लेने का आग्रह करता। क्योंकि उसका कोई नहीं है, वह उसकी हो जाना और उसे अपना बना लेना चाहती है। उसके भीतर आतुरता की एक कुरेदन-सी होती है। उसे बरबस ही खीझ होती है कि रघुनन्दन उसे अपना मानकर, उसकी सेवाओं को क्यों कबूल नहीं करता, उसे चेरी बनने का अवसर क्यो नहीं देता, उसके सहारे टेक क्यों नहीं लगाता? वह चाहती है कि रघुनन्दन उसे आदेश करे, अपनेपन का दबाव डाले। ऐसा निर्लिप्त-सा मानव, नाते-रिश्तों के प्रति इतना जड़ और निष्क्रिय रघुनन्दन उसे क्लेश पहुँचाता है... उसके नैसर्गिक स्नेह को ठेस पहुँचती है......वह इसे निर्ममता तक पुकार उठना चाहती है ..।

जाने चाहे अनजाने उनके अपनेपन की नींव दृढ़ से दृढ़तर हो रही थी।

यो तो रघुनन्दन अपने वर्क-शाप और अपने मज़दूर-सघ में व्यस्त रहता, लेकिन रजनी, अबोध चपलतावश उसे आकर झाँक जाने का मौका ढूँढ ही लेती।

फिर गुलाबी जाड़े आये, जिनमे एक सिहरन और एक खुनकी थी।

लेकिन इससे भी ज्यादा, डूब जाने का मौका तो रजनी और

रघुनन्दन और सुरेश को तब मिला, जब सरदी कुछ घनी हुई और अँगीठियाँ आईं। दिन भर के थके-माँदे सुरेश और रघुनन्दन, साँझ के गहरी हो जाने पर एक साथ रजनी के पास लौटते—उसी प्रकार जैसे दो दिशाओं से बहती आतीं सरिताएँ मुहाने पर एक हो जाती हैं। कमरे मे, आरामदेह गरमी में अँगीठी तापते हुए जाड़े की लम्बी घड़ियाँ वे बातचीत मे गुजार देते। रघुनन्दन अपने भाई-बदों, मजदूरो की तकलीफो और मुसीबतो का चित्र दर्द के साथ खींचता। सुरेश और रजनी दोनो ही रघुनन्दन को श्रद्धा से देखते। फिर एक समय ऐसा भी आया कि जब ऐसा लगा कि रघुनन्दन एक ज्वार का नाम है, जो सबको सग समेटे लिये जा रहा है और उसमे डूबते-उतराते व्यक्ति, उसके भाटे की कामना न करके, उसी तरह उसमे समाते और खोते हुए चले जाना चाहते हो, लेकिन रघुनन्दन को इसकी परवाह नहीं थी कि कौन उसे कैसे देखता है। वह एक लगन अपनी राह चला जा रहा था और उसकी लगन सबको अपनी ओर खींच रही थी। रजनी को खासकर ज्वार के थपेडे सुखद थे और उसकी महानता का सुरूर पति पत्नी दोनो पर एक-सा था। लेकिन बात यह बेखबरी की थी।

उसके उत्पत्ति, विकास और विस्फोट से अनभिज्ञ रजनी के अन्दर एक नैसर्गिक भाव लहरे मारने लगा। राह अँधेरी थी, लेकिन प्रकाश मिलेगा, ऐसा विश्वास था।

दिन बीतते रहे, लेकिन थकान के साथ नही जैसी कि उनकी आदत है, बल्कि एक शरबती उल्लास के साथ, जिसमे रल-मिल जाने का भाव अँगड़ाई ले रहा था। किन्तु ख़बर इसकी न तो सुरेश को थी, न रघुनन्दन को और न रजनी को।

(४)

रजनी जब बनारस मैके गई तो उसकी गोद में एक तीन महीने का बच्चा था। आज उसे वहाँ गये भी करीब छः-सात महीने हो गये। सुरेश को अकेले घर मे परेशानी होती है और उसकी कामना है कि रजनी को बुला लिया जाय। रघुनन्दन की भी सलाह ऐसी ही है क्योकि उसे अलग, सूना घर काटे खाता है और रजनी उसके जीवन का कैसा अश हो गई है, इसका अदाज उसे आजकल हो रहा है।

लेकिन रजनी को लाने मे परेशानी है, सुरेश बीमार है। खैर कोई बात नहीं, रघुनन्दन जाकर भाभी को लिवा लाने को तैयार है। इससे अच्छी और कौन-सी बात हो सकती है। सुरेश अपने श्वसुर को तार दिये दे रहा है कि वह खुद किसी कारण से आ सकने मे असमर्थ है। वह अपने भाई से भी प्यारे मित्र को भेज रहा है और वे रजनी को उसके साथ कर दे। रघुनन्दन जाकर रजनी को लिवाता लायगा, घर का सूनापन कटेगा।

रजनी के यहाँ रघुनन्दन लोगों का बडा प्रिय अतिथि रहा—जमाई का अन्तरग था ही, ऊपर से निजी व्यक्तित्व। अब रघुनन्दन सब को लेकर परसो लखनऊ जा रहा है।

लेकिन जाँने के पहले, रजनी को सारनाथ देखने की इच्छा है। कौन कह सकता है फिर मौका मिले, न मिले। अरे कह तो सब यह सकते हैं कि इतनी जल्द ईश्वर का कहर नहीं गिरा पड़ रहा है और रजनी को सारनाथ देखने का मौका मिलेगा और हजार बार मिलेगा। लेकिन रजनी कहती है, वह जायेगी ही। शायद कोई रोकथाम मुमकिन नहीं है, बेचारा रघुनन्दन पसोपेश मे पड़ा है। आख़िरकार वह

बारिश आ जाने के वास्तविक और सच्चे बहाने की ओट मे छुप जाना चाहता है। रघुनन्दन रजनी से कहता है—देखती नहीं, कितनी सख़्त बरसात शुरू हो गई है। एक दिन मे शहर पानी में डूब जाता है। इसमे आख़िर ज़िद की कौन-सी बात है? कौन सा ऐसा तीर्थ छूटा जा रहा है, जिसके बिना तुम्हें मुक्ति नहीं? इस पर रजनी ने तिनककर कहा, तुम भी इन लोगों-सी ही कहने लगे? बेचारा रघुनन्दन दो नावो मे पैर दिये खड़ा है, और जानता नहीं, किस नाव मे आकर दूसरी को छोड़ दे। वह आख़िरी बार कोशिश करता है—रजनी बचपन न करो। मुझे तुम्हें ले जाने मे इनकार नहीं है......। इस पर रजनी 'तो फिर चलते क्यो नही?' कहकर रघुनन्दन को टोंकना चाहती है, लेकिन वह अपना वाक्य पूरा करता है—लेकिन सवाल इसी बारिश का है। रजनी ने कहा कि ये सब फिजूल बाते हैं, किसी का ले जाने का मन्शा न हो, तो मै भी ऐसे बहानो का अम्बार लगा सकती हूँ। आसमान क्या आज ही के दिन फटा पड़ रहा है। कैसा साफ, नीला-सा है। क्यों, नहीं है? इस पर रघुनन्दन क्या कहे, आसमान साफ है, इससे किसे इनकार है भाई, लेकिन ऐसे धोखेबाज़ मौसम की कौन चलावे। और जो तुम आसमान फटे पड़ने की बात कहती हो, सो उसका क्षण आजकल कोई भी नहीं बता सकता; आसमान नहीं ही फट पड़ेगा, इस विश्वास की भित्ति इतनी दृढ़ नहीं है जितनी तुम समझे हुए हो।

लेकिन चाहे बारिश हो, आसमान ही क्यों न फट पड़े, रजनी जायेगी। ज़िद सरासर रजनी की है। रघुनन्दन लाचार है। यो मारे-मारे फिरने मे उसका कोई कसूर नहीं है।

तो रजनी और रघुनदन सारनाथ गये और जैसा कि इरादा था, वे

शाम तक घूमा किये—रजनी के बच्चे को उसकी नानी ने मोहवश अपने पास रख लिया था—उन्होंने सारी प्रमुख जगहे देखीं, और एक जगह अपनी याद भी अङ्कित कर दी।

पहले गोधूलि ने छापा मारा, फिर सध्या ने। लेकिन जैसे ही इन्होंने घर चलने की सोची, पलक मींचते-मींचते भर मे, काले-काले, कालिख से भी काले बादलों ने आसमान को छिपा लिया। लगा, आसमान सचमुच ही फट पड़ेगा, और रघुनन्दन ने कहा भी था कि ऐसे धोखेबाज़ मौसम की कौन चलावे।

कहीं आश्रय लेने की ग़रज से वे अतिथिगृह की ओर बढ़े और उन्होंने मकान की देहलीज़ लाँघी ही थी कि एक कान के पर्दे फाड़ देनेवाली गड़गड़ाहट के साथ पानी मोटी-मोटी धारो में गिरने लगा। लगा, प्रलय आज ही हो जायगा और महाकाल का नृत्य भी आज ही होगा। बिजली गरजती हुई, फुफकारती हुई आसमान मे लपक रही थी और उसके आवेश को देखकर न जाने कैसा लगता था। जमीन दहल उठती थी, साथ ही बेचारे आदमी के दिल अलग दहल उठता था। बादल अलग गरज रहे थे। जमीन पर अँधेरा, आसमान मे अँधेरा। सब जगह मौन छाया हुआ था। दिशाएँ सॉय-सॉय कर रही थी। सब कुछ निश्चल और निस्तब्ध था, मानो प्रकृति दहशत मे कॉप रही हो।

ये दो मतवाले मूर्ख उस अतिथिगृह मे ईश्वर-ईश्वर कर रहे थे। रजनी बिजली चमकने से कॉप तक उठती और रघुनन्दन को ढाढस बँधानी पड़ती।

पानी थमने की प्रतीक्षा करते करते आठ बजा, नौ बजा। पानी बदस्तूर गिर रहा था।

रघुनन्दन ने रजनी मे जान डालने को कोशिश की—अब ?

रजनी पहले तो चुप रही फिर अस्फुट स्वर मे बोली—उसमे कहना सुनना क्या है ? पानी गिर रहा है तो गिरेगा ही और हम भी उसे गिरने ही दे।

रघुनन्दन—तो फिर मै ही कब यह कहता, हूँ कि तुम एक चाँदनी टाँगकर पानी रोक दो ? वह तो गिरेगा ही क्योंकि हमारे बस का नहीं है। लेकिन हमारा इन्तजाम कैसे होगा ?

रजनी—अब तो आफत मे फँस ही गये। जैसे कुछ इन्तजाम होना होगा, होगा। लेकिन अच्छा यही है कि इस परेशानी मे मेरा एक साथी भी है।

रघुनदन—अरे यह सब जाने भी दो। इन्तज़ाम अपने आप तो होने से रहा, करना तो हमीं को होगा। दूसरे, चाहे तुम मानो या न मानो फँसीं तो तुम इस आफत मे अपने ही कर्मो ?

रजनी ने मानो रोते हुए कहा—जो चाहे सो कह सकते हो। लेकिन तुम्हारे साथ हूँ इसी लिए भरोसा करती हूँ कि जो गाज गिर पड़ी है उसे...

रघुनंदन ने वाक्य पूरा किया—झेल सकूँगी, यही न ? लेकिन अगर वह हम दोनों की शक्ति के बाहर की साबित हुई तो ?

रजनी ने भोलेपन से कहा—तो दोनो संग डूब जायँगे, यही कहना चाहते हो न ?

रघुनदन—मै यह तो नहीं कहना चाहता, लेकिन यह जरूर कहना चाहता हूँ कि तुम हो बच्ची और तुम्हारी ज़िद तुम से उम्र मे बहुत बड़ी है।

यह कहकर रघुनदन मुक्त रूप में हँसा और बाहर की बिजली भी

थोड़ी देर को शर्मा गई। रजनी भी मुस्कराई और दोनो हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे—प्रतीक्षा मे। दस बजा।

पानी थमने का तो नाम ही नहीं लेता—रघुनदन ने कहा।

रजनी ने कहा—मालूम नह िकब का बदला देवो ने हम से निकालने को सोची है। ऐसा बनवास! सोने-बैठने का ठिकाना नहीं, न एक कम्बल, न कुछ। ठडक अलग हड्डियो मे घर बनाने को आतुर है।

और जब बारह बजे तब भो बाहर जाँघ तक पानी था और अतिथि गृह के दालान तक में पानी लहरें मार रहा था। बिजली उतने ही जोर से कौंध रही थी, और उसका किसी भी पल गिर जाना कोई आश्चर्य न था।

रघुनदन ने कहा—अब तो यहीं सोना होगा।

रजनी—चारा ही क्या है? सो लेंगे।

रघुनदन—तो फिर एकाध कबल-वबल की जरूरत कम से कम तुमको तो होगी ही।

–और वह उस दूसरे आदमी से इस विषय मे पूछताछ करने चला, जो उसी कमरे के एक कोने मे न मालूम कब आकर लेट गया था।

रजनी एक फटी-सी दरी नीचे बिछा, कबल ओढ, आँचल मुँह पर डाल और सर के नीचे हाथ देकर सो जायगी। और रघुनदन अलग निचाट फर्श पर सो जायगा। रजनी सच ही कहती है, क्या चारा है?

..रघुनन्दन के पैर अँधेरे मे डगमगाये, सँभले, फिर डगमगाये, मतिभ्रम हुआ, फिर मस्तिष्क नील आकाश की तरह स्वच्छ हो गया .. फिर तुमुल संघर्ष हुआ

■ ■ ■

स्टेशन जाने के थोड़ी देर पहले अस्तव्यस्त-सा रघुनदन रजनी से एक ज़रूरी काम का बहाना करके बाहर चला गया।

जब रजनी ने अपना टँगा हुआ ऊनी ब्लाउज़ सर्दी की वजह से पहनने को उठाया तो उसमे एक सफेद कागज़ रखा मिला, जिसमे लिखा था:—

'रजनी,

मै जा रहा हूँ। कहाँ? सो बहुत निश्चित तो नहीं, परतु शायद, बबई। काम है। मुमकिन है, तुम से फिर मुलाकात भी न हो। सब की सब से मुलाकात चिरकाल तक के लिए तो नहीं होती? तुम न मालूम किस चोरदरवाज़े से मेरे जीवन मे अनजाने ही आ गई। तुम्हारे इस आगमन को कभी सूर्य-किरण-सा शातिप्रद कहने को जी करता है और कभी भीषण उल्कापात-सा, सशयों और विनाश से भरा-पुरा, काँपता हुआ! यदि तुम पूछो भी तो शायद मैं न कह सकूँगा कि मेरा मन इस समय क्या कहने को है। हम मिले, यह मेरा सौभाग्य था और आज मै जा रहा हूँ यह भी केवल मेरा ही दुर्भाग्य होना चाहिए था, किंतु खेद मुझे यह है कि वह भाग्यरेखा तुम्हें भी भूल से छू गई है। न मालूम किस घडी मे हम मिले थे और एक आकर्षण से एकदम पास आ गये थे। हमारी उस मैत्री का उपसहार इस प्रकार होगा, यह तो मैं सोच भी न पाया था, रजनी। मैंने भी अपने को समझने मे धोखा खाया, तुमने भी। हमसे ऊँचा रहा सुरेश, जिसने सारा भार हमारे कधों पर लाद कर अपने को मुक्त कर लिया। लेकिन यह वक्त इस प्रकार घाव मे बेदर्दी से उँगलियाँ दौडाने का नहीं है, अब तो इस सब की जवाबदेही वहीं की जा सकती है। तब तक के लिए हम दोनों ही मौन धारण करके धैर्य का परिचय दे।

लेकिन इस वक्त मैं सिर्फ़ एक बात कहना चाहता हूँ, क्योंकि इसके बाद मैं अपनी आवाज़ घोट दूँगा। वह यह है। मेरे मन में अनुताप है भी और नहीं भी। तुम मुझे निर्मम कह सकती हो, मुझको आपत्ति नहीं है। लेकिन मुझे भी कहने दो। पत्ते डोलते हैं, हम उन्हें कुछ भी नहीं कहने जाते, नदी उन्मादिनी की तरह बहती जाता है, हम उसके लिए भी कड़वे शब्द नहीं ढूँढते। इनमें कहीं कोई प्रश्नवाचक चिह्न नहीं है, उसकी कहीं कोई गुञ्जाइश ही नहीं। तो फिर हमारा अपराध? उसका समाधान? सच कहना, क्या सत्य के अनुसार यह पाप कहलाया कि हम सृष्टि के नियमों की अवहेलना सफलतापूर्वक न कर सके? दैव द्वारा भेजी गई इस गाज को अगर हम सिर ऊँचा करके न झेल सके और उसके नीचे पिस गए, तो क्या यह पाप कहलाया? क्या हम नफ़रत से ज़्यादा करुणा के अधिकारी नहीं हैं? रजनी, मैं जानता हूँ, मैं अपने अपराध को कम करके देखने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ, लेकिन क्या प्रश्न का यह दूसरा पहलू एकदम ग़लत है? यदि कोई सत्यार्थी इसका ऐसा दृष्टिकोण ले, तो क्या वह एकदम असगत होगा? क्या यह प्रश्न थोड़ी मात्रा में भी तर्कसम्मत नहीं है?.. मैं इस समय ज्यादा कह सकने में असमर्थ हूँ लेकिन मेरे अन्दर विविध प्रश्न उठ रहे हैं और मैं इनके सम्बन्ध में घोर अन्धकार में हूँ। मुझे प्रकाश चाहिए। सम्भव है तर्क-द्वारा हमारे अपराध का परिहार हो सके, यद्यपि ऐसा करना मैं स्वयं पाप और कायरता समझूँगा, क्योंकि इस अनुताप का सम्बन्ध तुमसे है, उस तुमसे जिसे मैंने परिचय के पहले क्षण से पूजना शुरू कर दिया था, उस तुमसे, जो मानवता की प्रतीक है, उस तुमसे जो माँ है। तुम आज चाहो तो सोच सकती हो कि मैंने तुम्हें भुलावा

देकर, तुम्हारा मोती छीन लिया है। यदि ऐसा कोई विचार तुम्हें सताये, तो मै किसी भी रूप मे, प्राण देकर भी, जुर्माना दे सकूँगा, दूँगा। समाज को मुझे सजा देने का अधिकार है, मै इसमे शक नहीं करता, लेकिन मैं शपथ खाकर कहता हूँ रजनी, अपने अपराध के विषय में मै अन्धकार में हूँ।

मै तुम्हें देवी के समान पवित्र देखता हूँ। मुमकिन है इसके लिए कुछ ज्यादा अभिमान, अपने लिए विश्वास और साहस की जरूरत होती हो, लेकिन मैं मौत के तख्ते पर भी खडा हुआ कहता हूँ, मैं पूर्ण निर्दोष हूँ, और गोकि दुनिया के किसी कानून मे मुजरिम खुद फैसला नहीं करता, लेकिन मेरा विश्वास है कि उसका अपना फैसला सबसे ज़्यादा वज़न रखता है।

रजनी, अगर कहा जाय तो हम तो केवल औज़ार रहे, उस षड्यन्त्र के जो हमारी बुनियाद उस पर बनी हुई इमारत के खिलाफ करती है। यह सारी इमारत ही गलत है, और उसके ढहने की कामना करते हुए तुमसे क्षमा चाहता हूँ।

—रघुनन्दन।

रजनी के चेहरे पर एक खिन्न और विषण्ण मुस्कराहट आई और मुर्झा गई—घाव हरा है।.. वह भी रघुनन्दन की अपेक्षा अधिक ज्योति मे नहीं है। 'अन्धकार से मुझे प्रकाश में ले चल'–उसे धर्मग्रथों का कहीं सुना हुआ वाक्य याद आया।

(५)

कोई चार महीने बाद।

रजनी बैठी बच्चे को दूध पिला रही थी। शाम के सात बजे थे। सुरेश हाथ में अखबार लिये विक्षिप्त-सा आया। उसका ढाँचा तक

क्रन्दन कर रहा था। आँख में बड़े-बड़े विवशता के आँसू, गिर पड़ने को विकल, फूल रहे थे, गाल पर कुछ मद्धिम रेखाएँ खिंची भी थीं। रजनी के हाथ में अख़बार का पन्ना देते हुए उसने कहा—पढ़ो! उसका गला रुँधा हुआ था और वह आरामकुर्सी मे बेदम सा गिर पड़ा और इस तेजी से जल्दी-जल्दी साँस लेने लगा मानो उसका दम घुट रहा हो।

रजनी ने आँखे दौडाईं, बड़े मोटे मोटे अक्षरों में छपा हुआ था—'बम्बई की मिल में जबर्दस्त हड़ताल। तैंतालिस हज़ार मज़दूरों ने काम छोडा। पिकेटिंग जारी है। हडतालियों पर गोली चली। प्रमुख हडताली और मज़दूर नेता रघुनन्दन शिकार हुआ। मज़दूरों में अपार रोष।' अन्दर ख़बर मे था—हड़तालियो का नेतृत्व करने वाले स्वर्गीय रघुनन्दन ने, जो कुछ ही काल पहले लखनऊ के मज़दूर-सघ के सभापति थे, बम्बई आने के साथ ही, श्रमिक आंदोलन की रफ़्तार जितनी तेज कर दी थी, उतनी इधर होनी सम्भव न थी। उनकी निर्भीकता और सदाचारिता ने सबको मोह लिया था। मज़दूरों ने केवल अपना नेता नहीं खोया है, वल्कि उससे बहुत ज़्यादा। जैसी बहादुरी से मौत को उन्होंने गले लगाया है, वह स्वय आनेवाली मजदूर नस्लों को इज्ज़त के साथ कुरबान होना सिखाती रहेगी। गोली चलाने के पहले बदूकचियों ने डराने के लिए कहा—अब हम गोली चलाते हैं, हट जाओ। इसके उत्तर मे इस वीर नेता ने उनकी नपुसकता पर अट्टहास करते हुए कहा—हम मरने ही आये . वाक्य पूरा भी न हुआ कि वे गिर पड़े। एक गोली सीने को छलनी करते हुए निकल गई, दूसरी सर को.... ।

रजनी ने अख़बार पढकर और मानों ढुलकते हुए आँसुओं को

झूला झुलाते हुए कहा—कैसा देवपुरुष . और उसकी बात का वाछित जवाब सुरेश की हिचकियो ने पूरी तरह दे दिया।

(६)

जिस तरह एक तह के बाद दूसरी जमा हो-होकर नीचे की चीज़ को धुँधला और अस्पष्ट बनाती जाती है, उसी तरह छः साल कुछ न कुछ धुँधलेपन का पानी स्मृति पर चढाते हुए निकल गये।

एक दम्पति और उनके तीन बच्चे सारनाथ देखने आए हैं। पति की आयु है लगभग तीस वर्ष, पत्नी की चौबीस-पचीस। बड़े लड़के की उम्र होगी सात साल की, दूसरे लड़के नीलाभ की पाँच और तीसरा अभी गोद ही मे है।

एक प्राचीन स्तूप को देखते-देखते युवती ठिठककर खड़ी हो गई। पुरुष पास आया और उसने देखा दीवाल पर महीन अक्षरों मे कुछ खुदा हुआ था। उसने पढ़ा—

रजनी और रघुनन्दन; १५ अगस्त १६३८। मैत्री और विश्वास की स्मृति मे।

पुरुष ने जिज्ञासा की। क्यो रजनी? रघुनन्दन! उससे अलग हुए छः वर्ष होने आये लेकिन लगता है मानो कल की ही बात हो, जब कि वह देवकुमार-सा, हमारे सग हँसता-खेलता, ठठोली करता फिरता था। तुम्हें वह उस साल लेने आया था, तभी की ही बात है शायद? मन आज भी रोने को मचलता है। कैसी जीवनी शक्ति, कैसा मोहक व्यक्तित्व!

रजनी ने खिन्न मुस्कराहट और अवसाद के साथ एक छोटा-सा 'हाँ' कहा, और सुरेश को इस तरह अपने मे डूबे और घाव के टाँके

खोलते देख उसने नीलाभ को अपने पास खींचा, छाती मे लगाया, चूमा और यों ही पूछा—नील, तुम्हारे बाबूजी . . . . ?

नीलाभ ने सदा की भाँति प्रश्न के उत्तरार्द्ध को समझते हुए अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया और कहा—यह ..और सुरेश के कुर्ते के दामन को तसदीक़ करने के हेतु पकड़ लिया लेकिन रजनी ने तो केवल आकाश की ओर निहारा !

उसकी भी आँखें बुरी तरह डबडबा आई, लेकिन उसने अपने ऊपर वश करके पति से कहा—आओ चलो, घर चलें। मुझे अभी अभी एक ज़रूरी काम याद हो आया है। तुम्हे नहीं मालूम, आज मेरा जन्मदिन है न ? माँ ने दावत का आयोजन किया है।

जब वे घर पहुँचे, उन्हे मालूम हुआ कि जन्मदिन कल होगा।

घर पहुँचते-पहुँचते भर मे रजनी ने, उन्मत्त-सी अपने कमरे में दौड़कर उसे अन्दर से चिपका लिया।

कुछ ही देर बाद सुरेश उसके कमरे की ओर गया और दरवाजे पर दस्तक देते हुए जब वह अन्दर दाखिल हुआ तो उसने देखा, रजनी एक अजीब हालत मे बैठी हुई है, उसे तन-बदन की सुध नहीं है, बाल बिखरे हैं, आँचल कहीं का कहीं जा रहा है, ढुलके हुए आँसू गाल पर सूख गए हैं और इस समय भी रह-रहकर उभर आते हैं।...

सुरेश जो प्रश्न पूछने गया था, उसने उसे पूछा ही—तुम्हारा जन्म दिन तो कल होगा ?

रजनी ने समाधान किया, लेकिन अस्त-व्यस्त सा—हाँ, मैं भूलकर आज के ही धोखे मे रही।

फिर सुरेश ने देखा, रजनी के पैर के पास ही एक सफेद काग़ज

पड़ा हुआ है, जो अब समय की मार से फीका हो रहा है। ऊपर से मालूम होता है, अभी हाल उस पर थोड़ा पानी ढुलक गया है। सुरेश ने उसे पढने की कोशिश की, लेकिन असफल रहा। जितना ही सुरेश आँख गड़ाता था, पानी (शायद आँसू!) के कारण, लकीरो की फैली हुई टाँगे बस और बढ़ जाती थीं!

माँ

एक दफ़्तर के बाबू की जिन्दगी का अन्दाजा रेगिस्तान से किया जा सकता है—सूखा, निचाट, जलता मैदान। उसमे गरम हवा तो बारहमासा चलती है ही, साथ मे हज़ार अज़दहे की शक्लें अख्तियार करके, बगूले भी उठते हैं, बवण्डर भी। इन बगूलों और बवण्डर के बीच, ठण्डी बयार का एक झोंका भी कभी आया है कि नहीं, इसकी जाँच नहीं की गई। उसके उस सपाट, समथल, मैदान-सदृश जीवन मे कहीं ऊँचा-नीचा, खाई-खड्ड भी नहीं कि उसी से ठोकर खाकर, टकराकर, वह गिर पड़े, सिर फूटे, खून बहे। 'नहीं; उसकी भी कहीं गुञ्जाइश नहीं। ताज्जुब होगा, लेकिन बात वाक़ई' यह है कि वह बाबू अपनी इस बदक़िस्मती के लिए सिर धुनता है। अपनी ज़िन्दगी के इस बेमानी यकसाँपने से उसकी नजात नहीं। वह यह नहीं चाहता कि रोज़ वह वे ही शक्लें देखे, वही लिबास देखे, पहने, वैसी ही मुर्दा

बातें करे। वह सुख नहीं चाहता, बल्कि उस समथलपने से उसका दम घुटता है, जो उसके अभागे जीवन का मूल मन्त्र है। रोज, रोज, रोज। कहीं ख्वाक नयापन नहीं। यह ऊब उसे खाये डालती है।

ऐसे जीवन मे भला क्या कुछ लिखने योग्य। उसका आज बीते हुए कल की पिटी लकीर पर चल रहा है, और जो कल आने वाला है, वह भी आज की खिसक पर ही अपनी टट्टी खड़ी करेगा।

तो फिर जिस एक मनुष्य से हमारा परिचय होगा, उसके ही पास ऐसी कौन-सी बहुत-सी मोटे टाइप मे बॉर्डर देकर छापने वाली बातें होगी, यह तो हमारे सोचने की बात है।

इसलिए उसके उस जड, गतिहीन जीवन में हम ही क्यो बहुत रुकते चलें, और चुपके-से क्यों न उसके उस मधुमय जीवन की दो-चार मोटी और सुन्दर घटनाओं पर कुछ सतरें कह कर उसके जीवन के उस अध्याय पर पहुँच जायँ जहाँ पहुँच कर उसे लगने लगा था कि उस रेगिस्तान में भी ठण्डी बयार थोड़ी-सी बहने लगी है और बगूले थोडे-से थमने लगे हैं, जिस बीच उसकी जिन्दगी के अधपके फूल से रुई उड़ गई और रह गया थोड़ा-सा खोखला छिलका।

गिरस्ती में तीन प्राणी; रुक्मिणी, मनोरथ और छः साल का मोहन। शादी हुए नौ साल।

मनोरथ। दफ्तर का बाबू। वेतन, तैतालिस रुपया महीना।

शहर के गुञ्जान हिस्से मे छोटा, सँकरा मकान। जितनी लम्बी चादर हो उतना ही पैर फैलाया जा सकता है।

रुक्मिणी हर दृष्टि से सुघड़ गृहलक्ष्मी। उस कुँआ खोद और पानी पी वाली जिन्दगी में भी मुर्दा होने से बचे रहने का श्रेय उसी को।

रुक्मिणी कुशल है। कुछ अनुभव और कुछ दृष्टि के पैनेपन से वह जानती है, पारस्परिक जीवन मे किन घावों में उँगली छू जाने से टीस मालूम होती है, इसलिए उस ओर से भी सचेत है।

··· ये कुछ मोटी बाते हैं।

पास से पाई गई कुछ झलके ···

साफ ही है, मनोरथ का वेतन काफ़ी कम है। पर दम्पति मे सन्तोष का अथाह सागर। उनका सूखा लक्कड-सदृश जीवन। पारस्परिक वेदनानुभूति के कारण उसमे भी कुछ हरियाली बाकी है।

चाहे बात कुछ भी हो, पर नौजवान मनोरथ का अपना पक्का विचार है कि अपने तत्कालीन जीवन को ही अपना सारा ख़जाना मानकर भी यदि उसे मरना पडे तो भी उसे क्षोभ-ग्लानि न होगी। वह जानता है, अपनी स्त्री को पाकर उसका जीवन वृथा होने से बच गया।

दोनो पति पत्नी मे आपस मे बड़ा भरोसा, अपनापन सहानुभूति है। उनका विवाहित जीवन किसी मत्त तूफानी नदी की तरह नहीं, जिसके हडहडाते पानी के थपेडो की मार से उसमे पडी हुई नौका के चप्पे-चप्पे निकल जाते हैं। उनका जीवन एक गम्भीर, गहरी, मर्यादित सरिता की तरह मन्द-मन्द धीर गति से बढता है। अपनी सीमाओं से पूर्णतया परिचित। वह जो मनोरथ और रुक्मिणी की नाव, कगारों और ऊँची, क्षुधित चट्टानों से राह पहचानती हुई अब तक बहती आई है, बडी सुघर है। कही कोई मटमैलापन, गँदलापन उनके जीवन में नहीं है।

रुक्मिणी आई मामूली ऊँचे खानदान से। पर उसने देख लिया, उसका नया मकान कङ्गाल है। हाथ पर रोक लगानी होगी।

रुक्मिणी का नये वातावरण से समझौता हो गया। खुद उसके हाथ से मकडी के जाले साफ होने लगे।

वह पूरी वृत्तियो से घर के सङ्ग एक हो गई।

उसने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खो दिया।

फिर जब शादी के तीन साल बाद मोहन आ गया, तो उसे और भी निकास मिला और मोहन पर अपना सारा स्नेह बिखेर कर उसने सन्तोष की एक साँस ली।

मनोरथ सुखी है, उसे अपना एक अनन्य आत्मीय मिला।

गिरस्ती के तीनों प्राणियों का अस्तित्व अपने मे केवल तिहाई है और बाक़ी लोगो के मेल से पूर्णता को पाता है।

उनकी ज़िन्दगी में तङ्गदस्ती के दिन भी आते हैं, पर राहे भी निकल आती हैं।

■ ■ ■

इस प्रकार हास्य-विनोद से उदासी को दबाते हुए परस्पर विश्वास, प्रीति और लगन से उस दम्पति का सम्मिलित जीवन दसवे वर्ष के पास पहुँचा है। इस बीच उनमे कुछ बातो पर झगड़ा भी हुआ है, लड़ाई भी हुई है; पर उनके बीच अनसुथरे मनमुटाव के लिए कोई गुञ्जाइश कभी नहीं रही। उनके जीवन-चक्र मे पहिए का चक्का यदि कभी टूट भी गया, तो दम्पति ने उस चक्के के स्थान मे अपने हाथ देकर पहिए को चलाया है। उनकी गाड़ी इसीलिए कहीं रुकी नहीं। और यह उनके दाम्पत्य जीवन का इतिहास है। उनके जीवन में भी हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, क्रीड़ा-आकुलता का समारोह रहा है; पर उस दम्पति ने इन सबकी समष्टि को सदैव पुकारा—सफलता। उनका जीवन सफल रहा, ऐसा उस दम्पति ने सदैव सोचा। और आज दस साल के कुछ

विस्तृत काल के बाद, वह अपने अतीत को कड़वाहट और तीखेपन से बचकर और किञ्चित् सन्तोष से देख सकते हैं और साथ ही इसी अतीत की रोशनी से भावी के पथ को भी उजाला कर सकते हैं।

उनका जीवन फिरता ढलता बह रहा है।

◘ ◘ ◘

प्रकृति में पहाड़ो के सङ्ग जिस प्रकार खाई-खड्डो का विधान है, ठीक उसी प्रकार तृप्ति के बाद क्षोभ और सुख के बाद दुःख की प्रणाली है।

आखिरकार उस क्लर्क-दम्पति के सुघड़ जीवन की फिरती-ढलती नौका को मानों किसी क्षुधित चट्टान ने खा लिया।

मनोरथ की मृत्यु हो गई।

रुक्मिणी ने एकाएक अपने को असहाय पाया। रात तीन बजे के क़रीब मनोरथ की मृत्यु हुई थी। उस कुहराम और नहलक़े के बीच, चार पलो के लिए अपने आँसुओ को पीकर उसने रात ही रात मोहन को नौकरानी के सङ्ग भेज दिया। सबने उस पर पागलपन का आरोप किया, किन्तु मोहन को नौकरानी के सङ्ग भेज कर ही उसने शान्ति की साँस ली! उसने क्या सोच कर ऐसा किया, यह कोई नही जानता।

यहाँ मकान पर कुहराम मचा हुआ था। अपने छिने सुहाग की समाधि का ध्यान कर करके रुक्मिणी उन्मत्त हो गई। रोते-रोते आँखे बीर-बहूटी हो गई और दुःख से उसका बुरा हाल था।

उधर मोहन हँसी-खेल मे बालकों के सङ्ग रमा रह गया।

करीब आठ-दस दिन बाद जब वह नौकरानी के यहाँ से घर लौटा, उसने सब कुछ ज्यों का त्यों पाया। कहीं लेशमात्र अस्त-व्यस्तता

न थी। पहले की-सी ही सफाई और ताजगी हर ओर दीख पड़ती थी। उसकी बाल-बुद्धि मे ज्यादा तो क्या समाता, पर कहीं नाम को भी बेतरतीबी न पाकर उसका शक कली में से ही मुरझा गया। उसने तो पाया, मकान उतना ही सन्तुष्ट और सुखी है जितना पहले था।

मोहन घर के अन्दर घुसा। माँ ने अतिशय स्नेह से ललककर उसे गोद में लेकर प्यार किया और पूछा—खूब खेले न बेटा, तुम? ......मोहन ने जैसे आपत्ति की—काहे से खेलता माँ, खिलौने तो थे नहीं। सिर्फ मट्टी के घरौंदे बनाता रहा।

रुक्मिणी ने आपत्ति का समाधान किया—हाँ, हाँ, बेटा, ठीक कहता है तू। खिलौने तो तेरे पास थे ही नहीं। सच है, काहे से खेलता। मै भी कैसी बावली हूँ। अच्छा, इस बार तुझे एक गेंद, एक बैट, एक सीटी और एक बिगुल मँगा दूँगी। तब तू उनसे खेलना।

मोहन ने लिस्ट मे जोड़ा—और माँ, एक रबड़ का साहब भी। इसे तो तुम भूल ही गई थीं।

माँ ने कहा—हाँ इसे तो मैं सच ही भूल गई थी। एक रबड़ का साहब भी ... ।

पर दूसरे पल, इस सारे भुलावे के ऊपर, रबड़ के साहब के ऊपर, सीटी के ऊपर, उसे अपना नंगा, ताज रहित, छिना हुआ सुहाग दीख पडने लगा। उसका गला रुँध गया, मोती के दाने-जैसे आँसुओं ने बहुतेरी निकलने की कोशिश की, पर रुक्मिणी उन आँसुओ को पी गई, स्वय अपने रक्त की तरह। क्योंकि मोहन को आँसू न दीख पड़ें।

अपने को झट पूर्णतया प्रकृतिस्थ करके वह मोहन से फिर अपना मन बहलाने लगी। उसे लगता था वह अपनी सच्ची मनोभावनाओं से धोखा कर रही है; पर उसी धोखे मे अपने छिने और मृत सुहाग

के उपरान्त अपने जीवित और सदाबहार सुहाग मोहन की ड्रीम-लॉन, उसने यही धोखा खेलना निश्चित किया था। उसका पति तो अवश्य चल चुका था, पर उसकी आँखो का तारा मोहन ·· ··दुगुनी चमक वाले ताज का सुहाग···!

पत्नीत्व की शकल में बिखरने वाला रुक्मिणी का स्नेह मातृत्व के निर्मल झरने में आकर समा गया।

मोहन झुटपुटे तक तो पिता जी की बाट देखता-देखता चुप रहा। फिर भी जब वे न आये, तो मोहन को थोड़ा-सा अचरज हुआ। उसने माँ से पूछा—माँ, बाबूजी आज अब तक नहीं आये?

इस निरीह प्रश्न ने रुक्मिणी का कलेजा छेद दिया। उसे सच तो यह लगा कि कह दे—'बेटा, तुझे क्या मालूम! देखता नहीं, मेरा सुहाग दिन-दहाड़े लुट गया! केवल तेरे कारण लगाई हुई माथे की यह सोहाग-बिन्दी मानो रो-रोकर मुझे उलाहना दे रही है 'तुम्हे धोखा करना ही था तो मुझे क्यो नाहक़ तग किया?' नादान बच्चे! मैं क्या समझाऊँ उस सोहाग-बिन्दी को और क्या तुझे, मेरे आँखों के लाल! मेरा तो रैनबसेरा ही उजड गया! यह सुहाग-बिन्दी, यह चूड़ी, सब मानों विप्लव करना चाहती हैं। आँखो के डोरे दुश्चिन्ता से काले पडना चाहते हैं, माथे पर अन्धे की लिखावट की तरह झुर्रियाँ पड-पड के हट जाती हैं, अस्तित्व की नींव ही डगमग होती है। मेरी हँसी मे रोना होता है और होता है एक तीखापन, एक कसैलापन, जो स्वय मेरा उपहास करता है। पर मै तो सिर्फ एक बात जानती हूँ। मुझे तो हँसते जाना है, प्रलय के उस अन्तिम दिन तक जब महाध्वस नृत्य करेगा, जब सीसे की स्थिर अनडोलती नदी मृत्यु बनकर समस्त जड-चेतन प्रकृति पर करवट बदलकर लेट जायगी। वह भी एक दिन होगा,

क्योंकि उस दिन भी मेरी हँसी में विराम न आने पायेगा। मेरा उल्लास, मेरी हँसी, उस सीसे की नदी को भेद कर बहेगी। मुझे हँसते जाना ही होगा। माथे की झुर्रियाँ और शिकन अपने आने का पैगाम भेजेंगी। मैं हँस-हँस के उन्हें ठुकरा दूँगी और उन पैग़ाम लानेवाली बाँदियों से ज़ोर से कह दूँगी—तुम भाग जाओ और भविष्य में फिर अपने व्यर्थ आयास मत करो। कुछ हाथ न लगेगा।

'मैं अपने अन्दर उल्लास की एक आँधी उठाऊँगी जो इन पतझड के पत्तों जैसी झुर्रियों को उड़ा ले जायगी। इन झुर्रियों को जाना ही होगा। सब कुछ उल्लासमय होगा।

'मैं सृष्टि के अन्त तक यों ही हँसती रहूँगी। ऐ मेरे लाड़ले, अब मेरे पास अपना कुछ नहीं है, हँसना-रोना, सोना-जागना कुछ नहीं। जब तक तू है, मेरे लाड़ले, मैं शत-शत बार मरकर भी न मर सकूँगी, क्योंकि यही मेरे अन्दर की आवाज कहती है। मेरे पास जो कुछ है वह सब तेरा है, ऐ मेरे सदाबहार सुहाग, तेरा, तेरा, सब कुछ तेरा है। सब, सब, सब ···और एक दिन इस सबको तेरे नन्हें हाथों में सौंप कर तुझसे अन्तिम विनती करूँगी कि तू अब अपनी रखवाली करने वाली को छुट्टी दे दे, जिसमे वह एक बार जी भरकर रो ले, आँसुओं मे नहा ले, और अपनी उदासी. नैराश्य, उजड़े सूनेपन की असख्य झुर्रियों में डूबकर वह नीचे जा बैठे और उस शान्ति को पा ले जो सब कुछ खोकर मिलती है—जो शान्ति माली को उजड़ा बाग़ देखकर होती है, जिस बाग़ की एक-एक पत्ती उसकी माँ और बहन थी, जो शान्ति कोयल को मधुमास जाते और पतझड़ आते देखकर होती है, जो शान्ति महान् बरगद को अपनी आँखो के सामने अपनी एक एक शाखा को टूटते देखकर होती है··· उदासी का उल्लास। मैं भी

जिसमें ऐसी ही शान्ति पा सकूँ। किन्तु इतना सच मानो कि जब तक तुम छुट्टी न दोगे, मुझे तुम सदियों तक ऐसा ही पाओगे··· । मेरा समस्त हृदय रो-रोकर खून टपकाता रहेगा, आँख के कोये चटाख़ से दो टुकड़े हो जायँगे पर आँसू की एक बूँद न झलक पायेगी; चाम जल उठेगा, उसमे से राख उठेगी, किन्तु झुर्रियाँ न आने पायेंगी, न आने पायेंगी, न आने पायेंगी, ऐ मेरे सुहाग के अन्तिम प्रदीप, न आने पायेंगी। मेरे लाल, मैं मातृत्व की शपथ खाती हूँ, एक उल्लास का अन्धड बहेगा, बहेगा और बदसूरत झुर्रियों को मैं दूर ही से ठेल दूँगी, क्योंकि शायद तू नहीं जानता मातृत्व जितना ही कोमल उतना ही कठोर होता है, मेरे लाल।'

रुक्मिणी ने उन्मत्त की तरह दौड़कर मोहन को कसकर बाँहों मे भर लिया और थोड़ी देर तक उसे ज़ोर से छाती से चिपकाये रही। उसकी छाती मे दूध भर आया और उसकी चोली भीग गई। परन्तु वह तो मानों सारे सकून और सारे तूफान को एक संग ही छाती से लगाये बैठी रही। उसका हृदय रो रहा था। उसकी आँखें विचार-शून्य थीं। यदि उनमे कुछ था, तो वह था अपार मातृत्व। मोहन के उस नन्हें से प्रश्न से उसके अन्दर एक पैनी हूक उठी, जो उसके सारे अस्तित्व में व्याप गई। उसके अन्दर पीडा का तिक्त आँसू ग़ज़ब की तेज़ी से उठ-गिर रहा था, पर आश्चर्य है, उसकी आँख के कोयो मे एक छोटा सा अनारदाना तक न आने पाया। मोहन को सिर्फ़ इतना मालूम हुआ कि माँ ने आज उसको रोज से ज्यादा ताकत से बाँहों में कस लिया है। रुक्मिणी के हृदय की पुकार वह कैसे सुन सकता, और अच्छा ही है!

रुक्मिणी ने अपने को पूर्णतया वश मे करके उत्तर दिया—'नहीं

बेटा, तुझे मालूम नहीं, वे तो इलाज कराने गये। अल्मोड़ा मे एक बड़े डॉक्टर हैं ; अब उन्हीं की दवा होगी……।' एकाएक उसने अपना मुँह हाथ से ढँक लिया, 'और आँख में न जाने क्या पड़ गया' कहती हुई काम का बहाना करके अन्दर चली गई। नादान मोहन माँ के अकेलेपन की ज़रूरत को बिलकुल न समझता हुआ, उसके पीछे-पीछे हो लिया।

रुक्मिणी मोहन को सङ्ग आते देखकर उमड़ते आँसुओं को ऊपर चढ़ा ले गई—आँख मे जो 'कुछ' पड गया था उसे पड़ा ही रहने दिया! क्या करती, वह 'कुछ' तो हृदय की पोर-पोर मे बस गया था न!

उसने जान-बूझकर अपने और मोहन के बीच परदा डालना स्वीकार किया था। उसने मानो उस परदे के अन्दर से झाँक कर कहा—'आओ बेटा, तबियत नहीं लगती, घोड़ा-घोड़ा खेलें। मै घोड़ा बनती हूँ, तुम मुझ पर सवारी करो। पर ऐ बाँके सवार, तुम चढ़ते तो हो, लेकिन मुझे ज्यादा कोड़े न लगाना, नहीं मैं तुम्हे गिरा दूँगी।'

और वह हँसी। यह उसके उत्तरार्द्ध जीवन की बहुत बड़ी जीत थी।

□ □ □

सामने मोहन बैठा अपनी मोटर और बिगुल से उलझा हुआ था। रुक्मिणी सिंगारदान सामने रखे, वास्तविक मुस्कान पाने मे असमर्थ होने के कारण हँस रही थी। उफ! गाँठ, धोखा!! धोखा, गाँठ!! रुक्मिणी के बिलखते जीवन की एक अनुपम गाँठ, जिसे रुक्मिणी ने एक बार कलेजे पर पत्थर रख कर सदा के लिए डाल लिया, और जिस ने एक बच्चे के जीवन को चकनाचूर होने से बचा लिया।

दिन बीत जाते हैं ; गाँठ नहीं खुलती।

मनोरथ अलमोडा से इलाज करा के कभी नहीं लौटा।

उड़ानें

अठारह जुलाई की शाम को लाहौर से हवड़ा जानेवाली गाड़ी भाग रही थी, बहुत तेज, मानो यात्रा के अंतिम बिन्दुपर चन्दन, अगुरु और धूप का सोने का थाल लिये कोई उसकी भी बेकरारी के साथ प्रतीक्षा कर रहा हो। उसी गाड़ी में बैठा चला जा रहा था हमारा चित्तरजन, रुपहली आकाक्षाओं वाला चित्तरंजन।

गाड़ी मे पर्याप्त भीड़ है, कन्धे से कन्धा छिला जाता है। सब गाडी मे बैठे हुए भागे जा रहे हैं, मज़िलपर मज़िल तै करते हुए, भरी, लहराती हुई, बल खाती हुई, दीवानी नागिन उमगो को लिये हुए। अतृप्ति और प्यास के बीच ही चित्तरजन भी एक कोने मे सटकर बैठा हुआ है। उसका मुँह मुरझाया हुआ है, पर रह रहकर उसके चेहरेपर सोने-रूपे का एक पतला तार खिच आता है। और खिंच आती है दीप्ति की एक पतली रेखा।

चित्तरजन को इस समय अपने चारों ओर के लोगों से कुछ नहीं कहना है, क्योंकि वह स्वयं अपने में संपूर्ण है। इस समय उसके पास कहने सुनने को कुछ नहीं है, जो है वह सोचने विचारने को। उसकी लगन बाहर न बिखरकर अन्दर अन्दर फैल रही है। वह अपने मे खोया हुआ-सा बैठा है। इन कारणो से उसे अगल-बगल के लोगों के हेल-मेल, उनकी सरगोशियो से कोई सरोकार, कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल रह-रहकर अपने बालोपर हाथ फेर लेता है जिससे मालूम होता है कि उसे उस रेल से बडी शिकायत है जो यो बैलगाड़ी की चाल से जा रही है और चित्तरंजन के चित्त का खयाल करके जल्दी से उसे उसकी लाजो के पास नहीं पहुँचा देती। चित्तरजन सोचता है—कैसी कूड़ा, कोढ़ी गाड़ी है! रेंगती है, दम तो हई नहीं।

चित्तरजन से और प्रतीक्षा होती नही, उसका हृदय लाजो के पास अटका है और उसका प्रेम पुकार पड़ना चाहता है। पर बेचारा चित्तरजन वह सोचता है उसके पास पख भी नहीं हैं कि वह उडकर पिया के देस पहुँच जाय, जहाँ वह स्थान और काल का अतिक्रमण कर सके। वह रेल मे बैठा है, पर सशक है। वह सिमट-सिमटकर अपने मे ही समाया चाहता है। मानों उसके अन्दर से कोई कुछ चुरा लेगा।

उसे अनेकों विचार आते हैं, उस समय से लेकर जब वह एक साल पहले व्यापार के लिए घर से निकला था। पर कुछ भी हो, चित्तरंजन को तो लगता है, उसे घर से निकले युग हो गये और उसी हिसाब से उसकी अभिलाषा, आतुरता अपरिमित है।

वह सोचता है—

लाजो? कितना सुन्दर, सुघड़ नाम है! नीड़, जिसमें मन-पक्षी समा-सा जाना चाहता है! कितना शील, कितना सकोच, कितनी

लज्जा। मैंने कहा था—लाजो, पाख ख़तम होते होते मैं व्यापार करने जाऊँगा। तुझे कुछ कहना है?

लाजो—मुझे किसपर छोड़ जाते हो।

मैं—अपने पर, तुम पर · · ·

'उँहुः, भाई नहीं, देवर नहीं, ननद नहीं।'

'फिर भी मैं तो हूँ···'

'तुम तो चले ही जा रहे हो।'

'पर अपना एक प्रतिनिधि तो छोड़े जाता हूँ।'

'कौन?'

'तुम बताओ।'

'कोई तो नही।'

'नहीं कैसे? कुछ स्मृतियाँ।'

'तुम न रहोगे तो मैं उनको लेकर क्या करूँगी?'

'मैं होता तो उनकी आवश्यकता ही क्या थी? मैं न रहूँगा तो तुम उनसे खेलना, हँसना-बोलना, बनाना बिगाड़ना, तोड़ना-मरोड़ना ······जब जी चाहे उन स्मृतियों को दो चार उलाहने भी दे लेना, वे उलाहने मुझे मिल जायँगे। समझीं? उन्हीं स्मृतियों में मुझे पा लेना। (तुमने गुड़िया खेली है न?) उन्हीं स्मृतियों को तुम हृदय से लगा लेना, आँसुओं से भिगो देना और ओस-सरीखे झिलमिल हास के उस पार ताकना तो स्मृतियों के इस कूल आकर मैं निश्चय ही तुम्हें मिल जाऊँगा।'

'बस, बस। रहने दो अपनी कविता। अकेला घर तो मुझे अभी से काटे खाता है।'

'पर सोचो तो नादान रानी, कितने दिन ऐसे चलेगा?'

'चले, चाहे न चले। मैं तो तुम्हें ही पाकर धन्य हूँ। मुझे और कुछ न चाहिये।'

'पर सुनो तो, बचपना नहीं किया करते। ऐसा कीड़ों का-सा जीवन—इसका भार हम कबतक लादे चलेंगे? नीरस, निर्मूल जीवन······'

'नीरस, निर्मूल भला क्यो? प्रेमिको का जीवन शुष्क मरुस्थली मे भी शीतल झरना निकाल सकता है, जानते हो?'

'अच्छा, अब तुम्हारी कविता की पारी है···'

'कुछ भी कहो, मैं तुम्हें जाने न दूँगी ··'

'पर मुझे तो जाना ही होगा।'

'तुम ऐसा कहते हो, लो अब से मेरी तुम्हारी कुट्टी······मैं कुछ भी नहीं जानती····· तुमने देहलीज़ लाँघी और मैंने नयी सोहागिन चुनरी पहनी···मै तो दूसरा घर करूँगी · ···'

'ओफ्फोह! ऐसा? तू इतना गुमान काहे करती है, कर ले न दूसरा घर!'

'हँसती हूँ इससे समझते हो, झूठ कहती हूँ?'

'नहीं, भला मै झूठ क्यों समझूँ?'

'डरते नही?'

'कोई बात हो तब न? तू दूसरे घर चली जायगी, फिर भी मै तो तुझे छोड़नें से रहा···!'

'अच्छा एक बात सुनो। (रुख़ बदलती है) तुम जाओ, पर मुझे जादू की एक छूरी देते जाओ जिसमे जब तुम पर कोई सकट पड़े, छूरी काली हो जाय और उसी छूरी पर मै उतर जाऊँ!'

'अरे यह तो परी की कहानी मे होता है।'

'कहीं होता हो इससे क्या ? मुझे तो वह छूरी चाहिये ।'

'वह मेरे तेरे बस का नहीं · '

'अच्छा जादू का चिराग़ सही, जो सकट पड़ने पर गुल हो जाय।'

'वह मेरे तेरे बस का नहीं···'

'अच्छा सोने का धागा सही जो संकट पड़ने पर टूट जाय···'

'सोने का धागा तो मेरे बस का, लेकिन जादू ··वह मानेगा क्यों ?'

'कहते जाओ तो मान जायगा ।'

'मेरी लाजो, वह मेरे तेरे बसका नहीं ।'

'अच्छा जादू की बटुली ही सही, सकट पड़ने पर जिसमें से चावल खदर-खदरकर बाहर आ पड़े । मैं समझ लूँगी, प्रियतम पर संकट पडा है और मै जौहर कर लूँगी ।'

'यह मेरे तेरे बस का नहीं, हृदय मे बसनेवाली !'

चित्तरजन के हृदय पर एक सोने की जजीर है। तन्द्रालस रजन ने उसे उठाया और उसमे लगे किसी सुन्दरी, सभवतः लाजो, के चित्र को चूम लिया । हार मे वह मोती पिरोये जा रहा है—

लाजो—अच्छा तो अपनी एक तसवीर सही, जो सकट के समय धुंधली पड़ चले । मै समझ जाऊँगी, मेरे हृदय के पीऊ पर सकट आया है और सोलह सिंगार कर चन्दन की लकड़ी में जौहर कर लूँगी ।

'तसवीर का क्या काम ? मेरी तसवीर तो स्वय तेरे हिरदय में उतरी है । मन की खिड़की खोलकर देख, वहाँ तुझे मेरा चित्र मिलेगा। जब वह चित्र धुँधला पड़ चले, तू सारे आभूषण नोच फेंकना और आग में कूद पड़ना, क्योंकि तब तेरे जियरे से हूक उठेगी, टीस मालूम होगी ।···अच्छा, अब देर न कर, मेरे सग जानेवाला सामान बाँध दे ।'

'मान गयी, पर बताओ मेरे लिए लाओगे क्या ?'

'घने सारे मोती और जो तू कह।'

'ऐसा कुछ जिसमे मैं रति मालूम पड़ूँ और चाँद बीबी लजाकर छिप जायँ।'

'अच्छा तेरे लिए मै कान के बुन्दे लाऊँगा जो तेरे कान मे खूब फबेगे।'

चित्तरजन ने लाकेट खोला और तसवीर को चूम लिया। वह डूबा ही रहा—

लाजो—और?

'कमर के लिए मोती की करधनी, गले के लिए नौलखाहार, कठा, गेदा, और जो कह···'

'बस। और कुछ न चाहिये। पर देखना ज्यादा बाट न निहारनी पडे। मैं रोज प्रभाती सूरज से कह दूँगी कि वह दिन भर तुम्हारी खोज रखे, वरना उसे सज़ा दूँगी। साँझ को जब वह विश्राम के लिए चलेगा तो सज कर मैं उससे पूछ लूँगी, मेरा पीऊ कैसा है? वह कितना चला? पैर मे छाले तो नहीं पड़ गये? कब आओगे? यह सब मै उस सध्याकालीन सूर्य से पूछ लूँगी। और उससे यह भी कह दूँगी कि तुम पर जब वह गिरे, रिमझिम मेंह की तरह शीतल हो जाय।'

देखो न, एक पाख पवन की तरह आया और गया! और मै चलने को हुआ।

—मेरी लाजो ने पारजाते के फूल बाल मे खोसे, चमेली की चूड़ियाँ पहनीं, जुही की करधनी, मौलश्री के बुन्दे, बेले के लच्छे, रजनीगंधा के कंगन, और मुझे विदा करने आयी। मुझे लगा, मैं उसे न छोडूँ।

लाकेट की तसवीर को उसने फिर चूमा।

—मुझे लगा मै उसे न छोड़ूँ। मैंने कहा—लाजो, मै तुझे प्यार करता हूँ और तेरे कहे हुए सब आभूषण लाद कर लाऊँगा। मैं परदेस मे तुझे प्यार करूँगा। तू मुझे भूल न जाना। हम तुम एक ही चाँद-रानी को देखेगे तो कैसा लगेगा? मानों स्वय एक दूसरे को निहार रहे हो। गुलाब पर के नीहारकणों को मैं वहाँ चूमूँगा, तू यहाँ।

लाजो ने कहा—हाँ। पर मैने देखा उसकी आँखों मे आँसू आ गये थे।

'छी, रोओ नहीं।'

'मै रोती कहाँ हूँ?'

--मैं चलने लगा तो मेरा हृदय पीड़ा से छटपटा रहा था और मै देख रहा था कि लाजो के उस उल्लास में कैसा विषाद लहरे मार रहा है।

चित्र परदे पर वेग से आ रहे हैं—

—मै घर पहुँच गया हूँ—परदेस से अपने ताप को बुझाता हुआ एक राही। अपने चिर-परिचित अपनेपन के बीच मैं एक बार फिर पहुँच गया हूँ।

चित्र के आने-जाने का वेग और बढ रहा है और वह उस लाकेट के चित्र को बार बार चूम रहा है। चित्तरंजन को लगता है, उसकी तृप्ति न होगी और यों ही लाकेट को चूमता-चूमता वह सृष्टि की अनन्य तलहटी मे जा बैठेगा। पर कुछ हो, हार के मोती हाथ से छूट-छूटकर अलग जा पडते हैं और चित्तरजन को शका है—हार को अधूरा छोड़ कर ही कहीं उसे अपने को हमेशा के लिए खींच न लेना पड़े! चित्तरजन सोच रहा है कि उसने सदेशा पहले ही से भिजवा दिया है और उसकी लाजो दूर से ही डयोढी पर खड़ी दिखती है प्रतीक्षा करती हुई।

और उस भोले चित्तरजन को लगता है कि अनादि काल से लाजो वहीं उसी प्रकार खड़ी है—प्रतीक्षा उसके उर में है और उसकी आँखो के डोरों में। वह घर मे घुसना चाहता है। लाजो मान करती है। कहती है, न जाने दूँगी। जाने न दूँगी। चित्तरंजन इसरार करता है—'प्रलय के-से कितने दिन बाद एक हारा-थका पथिक लौटकर तेरे द्वार आया है। उसे फेर मत, पाप लगेगा।'

लाजो कहती है—पथ निहारते-निहारते जिया मे फफोला पड गया, निर्मोही!'

और यहीं जब तक तन्द्रा टूटे टूटे, खुमार हटे हटे, एक प्रचण्ड धक्का लगा और सब कुछ अन्धकारमय हो गया।

दूसरे दिन हम लोगों ने अख़बार मे पढ़ा—बिहटा मे ट्रेन-दुर्घटना।

जब मलबा हटाया गया, चित्तरजन उसी उल्लास और आत्म-विस्मृति में सो रहा था। उसके वक्ष पर वही बहुत बार चूमा हुआ लाकेट था और था कुछ कम दाम के गहनो का एक दीन-हीन बकस, जो मानो मनुष्य के प्रयास का उपहास करता था।

क्षुधा-विक्षिप्त

दस दिन पूरे होने को आये, जब मनोहर ने थोड़ी-सी मटर चबा ली थी। वह मटर भी इस तरह मिल गई कि कोई छोटी-सी लड़की गाँव के भड़भूँजे के पास उसे भुनाने को ले जा रही थी। राह में डलिया हाथ से गिर गई और मटर बिखर गई। वह उसे बीनने लगी। मनोहर जो कुछ दूर खड़ा था, मटर को गिरी देखकर बेतहाशा दौड़ा और लड़की के बहुत हाँ-हाँ करने पर भी बहुत-कुछ बीनकर चट कर गया। खा चुकने पर उसने अजीब तरीके से लड़की की तरफ़ देखा और हँस दिया। उसके दिमाग़ को जैसे पेट की आग ने शराब के पीपे की तरह ख़ाली कर दिया हो। वह हँसता रहा और लड़की घबराकर भाग गई। मनोहर फिर अपने टीले पर लौट आया। वह कुछ सोच रहा था।

भूखे पेट वह मटर चबा डालने से कुछ तकलीफ़ तो ज़रूर

हुई, यानी पेट मे बड़े जोर का दर्द उठा, जिससे वह घोड़े की तरह पैर फटकारने लगा। उसने अपने को धुनकर रख दिया, पर भूख हमेशा की तरह अन्दर कीड़े के समान कुतरती रही। मनोहर समझ न सका कि किस प्रकार वह इस भूख को एक तेज़ छूरी लेकर पेट चीर कर हमेशा के लिए हटा दे।

वह अभी ज़मींदार के यहाँ से ईंटे चढ़ाकर आया है। इस आशा से कि कुछ ताँबे के सिक्के मिल जायँगे जिनसे वह कुछ लेकर खायेगा। थोड़े से भी पैसे मिल जाते तो फिर चवेना और गुड़ लेकर ही पेट भर लेता। ईश्वर ने जब एक ख़ाली ढोल बनाया है तब उसमे भरने के लिए भी कुछ न कुछ चाहिए ही। कुछ नहीं तो पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े लेकर ही पानी के सहारे निगल जाऊँ तो कुछ तो मालूम होगा ही। इस भाड़ मे घुसकर जो कीड़ा अपने नुकीले दाँतों से उसे कुतर रहा है......... उसे तो दबा देंगे वे निगले हुए पत्थर!

मनोहर रात भर बँसवारी मे पड़ा करवटे बदलता रहा। उसे नींद न आई। शरीर टूट रहा था, थकान से चूर था। उसका पिछला दिन दूसरे गाँवो मे मज़दूरी ढूँढ़ने मे बीता था। तो भी क्या? . थोड़े से चने और एक डला नमक भी मिल जाता तो कुछ भूख मरती! उसने प्रश्न किया—'भूख मरती?' उसे विश्वास नहीं हुआ कि भूख कभी कम भी हो सकती है। रात हो गई और वह आकर उस बँसवारी मे लेट रहा जहाँ बचपन मे वह दौड़ता था और आज अपना एक झोंपड़ा न होने से सोता है।

बँसवारी में वह अधमरा-सा लेटा रहा। उसकी आँखो में नींद न थी, वह जागता पड़ा रहा, सपनो का भोजन करता हुआ—सुबह वह ऐसे देश मे जायगा जहाँ पैसे—हुँः, कैसे ओछे हो!—रुपये और अश-

फियाँ डालों मे फलती होंगी। सेब, अंगूर वगैरह जमीन पर महुए की तरह बिछे होंगे। मक्खन लगी हुई रोटी के टुकड़े . कितने नीचे . सिर्फ पाँच फुट ऊँचे पेड मे होंगे.. और जो चाहे उन्हे तोडकर खा ले। फल लगे हैं . खाने के लिए ही, नहीं तो क्या देखने को हैं! मालिक मुझे खाने को बहुत कहेगा, पर मैं खा न सकूँगा। मुझे भूख नहीं है।'

उसने पीपल के कुछ गोदे खाये थे। वह फिर अपने पर हँसा और उसने जैसे अपने को समझाने के लिए कहा—भूख में सपने भी कैसे आते हैं भाई! पर चुप, चुप मुझे ये सब बेवकूफी की बाते पसन्द नहीं हैं। कैसे गधे हो?

उसी हालत मे पडा-पडा वह चौकीदार का पहरा सुनता रहा। उसे कब झपकी आ गई, वह नहीं जानता।

मनोहर जब सोकर उठा, धूप फैल चुकी थी। लोग अपने हँडिया-पुरवा लेकर गाँव छोड़कर शहर जा रहे थे। भयानक अकाल पड़ा हुआ था। सभी दाने-दाने को मोहताज थे। कुछ लोग मनोहर के बगल से भी गुजरे और उन्होंने उसको चिथड़े मे लिपटा और बँसवारी मे पडा देखा। मनोहर की हालत इस वक्त बुरी हो रही थी क्योंकि पेट कुछ दानों के लिए बेताब था। मचलते पेट को बहलाने के लिए जो कुछ गोदे खा लिये गये थे वे मतली पैदा कर रहे थे। वह सोचता था—'बड़े गन्दे थे वे गोदे! कुत्तों के रौंदे हुए!' मनोहर की आँखों में आँसू आ गये। उसे कै नहीं हो रही थी। वह हलक़ में उँगली डालकर क़ै कर डालना चाहता था। फिर भी उसे घबराहट न थी। वह जानता था कि मौत ऐसे ही वीभत्स साज के साथ आया करती है।

शरीर की उस गिरी हुई दशा मे मनोहर को पूरा यक़ीन हो गया कि वह मरने जा रहा है। ये आँख के आगे उडनेवाली तितलियाँ

आँख मींचने भर मे न रहेंगी। एक असीम अँधेरे में न मालूम कब तक अपने भूखे पेट को धोखा देते हुए वह पड़ा रहेगा। एक घटाटोप अँधेरे की चादर उसे अपनी ठण्डी गोद मे छिपा लेगी ; पर फिर भी मनोहर अच्छी तरह जानता है, उस काली चादर में भी रोटी का टुकड़ा या भात हर्गिज न होगा। मनोहर ने एक बार फिर सोचा—"वह भी कैसा अभागा है कि उसके पास खाने को कुछ नहीं है।" पर दूसरे पल ही जैसे सोते हुए अभिमान ने जागकर कहा—"कौन कहता है, खाने को नहीं है ? हुँः, जब खाने की इच्छा ही न हो, तो ?'

और मनोहर सचमुच बड़े स्वभाविक ढग से हँसा।

मनोहर को फिर मरने का ध्यान आया। 'कुछ भी हो जब मरना ही है तो वह लेटे हुए नही, दौड़ते हुए मरेगा ! अगर वह सोते हुए मरा पाया जाय तो उसके लिए शर्म है !' उसने सहस्र क़समें गले के नीचे उतार लीं जिसमे वह किसी भी सूरत से सोते मे मरा न पाया जाय। वह उठ कर खड़ा हो गया। वह कुछ दूर चला था कि किसी ने उस पर दया करके बतलाया कि ज़मींदार के यहाँ ईंटे चढ़ाने के लिए आदमियो की जरूरत है। मनोहर ने उस आदमी की आँखो में देखा और विश्वास करना चाहा कि जो कुछ वह कह रहा है, झूठ नहीं है। भूख मानव मे अविश्वास का पहला बीज डालती है ; मनोहर ने अविश्वास के उस ससार के पार आकर विश्वास देखना चाहा। वह आदमी किसी प्रश्न की प्रतीक्षा में खड़ा था, पर मनोहर के मुख से 'जैरामजी' भी न निकली। वह केवल खड़ा रहा। उसकी ख़ुशी का ठिकाना न था। उसे लगा कि वह भूख के परे है। फिर वह एकाएक पूरे वेग से दौड़ने लगा। सोचता जाता था—हुँः हुँः—भूख ! भूख ? भूख क्या ? भूख कोई चीज़ नहीं होती। मुझे भूख लगी ही नहीं ! हाँ,

नहीं तो क्या ! अगर किसी की खाने की तबीअत ही न हो तो कोई क्या करे ? दो रोज से मन ज़रा बिगड़ा हुआ है। और क्या ? इसी लिए खा नहीं रहा हूँ। हाँ, नहीं खा रहा हूँ। जमींदार कितना कह रहा था बेचारा, आओ मेरे साथ खाओ बड़ा एहसानमन्द हूँगा। पर तुम्हीं सोचो न ? कहाँ का एहसान कहाँ का क्या, जब किसी की खाने की मन्शा ही न हो ? मुझे बेचारे जमींदार को निराश करना पड़ा, पर मैं अब भूख की उस दशा मे करता भी क्या ? बेचारा ज़मींदार !'

उसकी आँखो मे उस ज़मीदार के लिए आँसू आ गये जिसके यहाँ वह सिर्फ भूख न होने से न खा सका !

वह फिर सोचने लगा—'मेरे खाने के लिए क्या ? नहीं तो कमी काहे की ? दो-तीन रोज़ से कुछ खाने की इच्छा ही नहीं है। और क्या ? और फिर मुझे जो आनन्द बँसवारी मे लेटने मे मिलता है भला वह मुझे उस हालत मे मिलता, अगर मै उस बेचारे मोदी पर एहसान करने के लिए उसकी अटारी मे रहता ? छिः !! ये अटारियाँ भी क्या चीज़ हैं, बेकार, निकम्मी, ऊटपटाँग। अटारी का मतलब सिवाय इसके क्या कि अबाबील और चमगादड़ घोंसले लगाये ? हुँः ! मुझे अटारियाँ बहुत नापसन्द हैं। बिलकुल बेकार चीज़ हैं। अटारी के नाम से मुझे कै होती है, तभी तो मैं दस लोगो के कहने पर भी उसमे रहना नहीं पसन्द करता। राम ! राम !!'

मनोहर फिर सोचने लगा 'कुछ भी हो भाई, कभी-कभी सपने भी बड़े अटपटे आते हैं ! है न ? उड़ा चला जा रहा हूँ, न मालूम कहाँ ! कहीं साँड़ से जा भिड़ा, कहीं बर्र का छत्ता खुद गया, कहीं पर भूत और चुड़ैल !...पर यह क्या है इन सबके ऊपर ? अलमूनियम के

कटोरे में थोड़ा सा सड़ा हुआ भात ! यह यहाँ पर कैसे !.. ओफ, ये सब बातें हटाओ—कुछ काम की बात कहो—मुझे बेकार बैठकर गप्प मारने की फुरसत नहीं—हाँ, तो इस वक्त मैं ज़मीदार के यहाँ काम करने जा रहा हूँ। फिर ? इसके आगे ! वह मुझे चार आने पैसे तो ज़रूर देगा। इसके आगे ? उसमें से एक आना तो मैं उस छोकरे को दूँगा जिसने मुझे सूअर कहा था। कितनी प्यारी गाली है यह भी ? फिर मुझे वह गाली देता क्यों न, जब मैंने उसकी गोली उठा ली थी ? कुछ भी हो, मुझे गाली बकनेवाले छोटे लड़के बड़े पसन्द हैं।'

मनोहर की अन्तःप्रेरणा ने उसकी ठठरियों में नया बल भर दिया। वह दौड़ता हुआ ज़मींदार के दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ।

छः घटे के पसीने के बाद जब मनोहर ने चार आने पैसों की आस लगाई तो थोड़ा-सा बासी खाना लाकर उसके सामने रख दिया गया। वह गुस्से से काँपने लगा और उसने पत्तल में इतने ज़ोर से लात मारी कि वह वहीं फैल गई। क्रोध तो इतना आया कि जलती आग में कूद पड़े।

मनोहर चुपचाप चला आया और पीपल के पेड के नीचे खडे होकर पके गोदे बीन-बीनकर खाने लगा। वहीं उसे दो छोटे-छोटे आलू पड़े मिले। आलू बहुत छोटे थे और दोनों में काले निशान थे। "पर फिर भी आलू है"—मनोहर ने सोचा। उसे भुने आलू खाने का बड़ा शौक़ है। मन में कल्पना उठी, 'यदि एक मोहर मुझे पड़ी मिल जाय तो क्या करूँ ?' उसने बड़े विश्वास से उत्तर दिया—जैसे इसमें सोचने की कोई बात न हो और प्रश्न के दो उत्तर सम्भव ही न हों—"पन्द्रह गाड़ियाँ आलू भर लाऊँ और खूब भून-भूनकर खाया करूँ।" इस कल्पना से उसे सुख मिला।

मनोहर ने दोनो सड़े-से आलुओ को बडी सतर्कता से उठा लिया और अपनी फटी मिर्जई की अन्दरवाली जेब में छोड लिया जिसमें उसका धन कोई उससे छीन न ले जाय।

आलू मिलने के बाद उसको भूनने की समस्या आ खडी हुई। आग कहाँ पाई जाय? दूर पर चौधरी की चौपाल मे आग सुलग रही थी।

उस वक्त चौपाल मे कोई न था। खाट खाली पडी थी और कोने में दो गुड़गुडे टिकाकर रखे हुए थे।

वह चुपके से चौपाल मे घुस गया और उसने झटपट आलुओं को राख के भीतर गाड दिया। फिर चोरो की भाँति देखने लगा कि कहीं कोई आ तो नहीं रहा है! कुछ ही देर बाद बाहर खड़ाऊँ की खटपट सुन पडी। मनोहर ने आँख उठाई तो उस चौपाल के डरावने मालिक जग्गू महतो को पाया। मनोहर को और उसके फटे चीथड़ो को देखकर महतो को इतनी घृणा हुई कि उन्होने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया। फिर एकाएक उनका क्रोध असयत हो पडा और उन्होंने खडाऊँ निकालकर मनोहर को मारा। खून बहने लगा और वह भागकर बाहर निकल आया। मनोहर का ध्यान अपनी चोट पर बिलकुल न था। उसे रह रहकर यही विचार आ रहा था कि उसके आलू छूट गए। हृदय से मानो उन खोये हुए आलुओं के लिए एक हूक निकली, पर वह कमजोर आवाज किसी को चीर न सकी, अपने मे समाकर और गूँजकर रह गई।

अन्ततः जब वह उन राख मे गड़े हुए आलुओं की ओर से निराश हो गया, तब उसे अपनी चोट महसूस हुई। वह घुटने मोड़कर बैठ गया।

उसने .खून को देखा।' वह एक-सा बह रहा था। मनोहर आपे मे न रह सका और उसने अपनी तर्जनी मुँह में डाल ली, जिससे दर्द कुछ कम मालूम हो। उसे बेहद तिलमिलाहट हो रही थी। उसने जब अपनी उँगली बाहर निकाली तो देखा कि वह खून में डूबी हुई है और गरम .खून बहुतायत से निकल रहा है।

मनोहर को एकाएक ख़याल आया कि वह भूख को भूलने के लिए उसी गरम बहते हुए .खून से ही खेल करे। उसने सोचा कि अब से वह गिने कि .खून की कितनी बूँदे गिरी। ज़्यादा कुछ नहीं, सिर्फ ज़रा खेल के लिए। मनबहलाव के लिए। मनोहर ने सोचा, मेरे लहू की क़ीमत ही कितनी! अगर-थोड़ा-सा बहा देने से बहुत-सा मज़ा मिलता हो तो क्या बुरा है? उसने थोड़ी-सी मिट्टी की एक समाधि-सी बना ली और उस पर टपटप बूँदो को गिराते हुए वह एक, दो, तीन गिनने लगा। इकसठ तक पहुँचकर वह आगे गिनना भूल गया। वह अपने पर हँसा—'सिर्फ़ इकसठ ही!' और दूसरे ही क्षण फिर आगे की गिनतियाँ गिनने लगा।

इस खेल के ख़तम हो जाने के बाद उसने बहते हुए लहू से शकलें बनानी शुरू कीं...

जब तक वह अपने मे भूला हुआ उस बहते हुए ख़ून से चित्रकारी कर रहा था काफी ख़ून निकल चुका था। उसे कमज़ोरी महसूस होने लगी। उसका सिर एक ओर को लटकने-सा लगा। पर दूसरे ही क्षण मनोहर उछल पड़ा, मानो पैर-तले चिनगारी पड़ गई हो। वह उठकर खड़ा हो गया और घाव मे मुँह लगाकर ख़ून पीने लगा। उसने बकना शुरू किया—'अभागे को मौत भी नहीं आती मेरा आलू छीनकर...काश, उसे मालूम होता कि मैं मरने के कितने किनारे आ

लगा हूँ शायद उसका मन खड़ाऊँ उठाने की गवाही न दे सकता... पर उसे क्या मालूम और जरूरत भी क्या उसने तो खींचकर मार ही दिया और यह खून ! इनको आखिरी बूँदे जानो, हा ईश्वर हुँः ईश्वर ? ईश्वर ?...ढोंग का पुतला, हाँ-हाँ ढोंग का पुतला ! .. एक जानवर जो ऊपर बैठता है और अपनी बुराइयाँ छुपाने में जिसे कमाल हासिल है काश, वह ज़मीन पर होता तो मैं जी भरकर देखता कि वह भी किसी जेल मे, क़ैदो की काली पोशाक़ में, चक्की चलाता हुआ कोड़े की मौत मर रहा है...।'

मनोहर हँसने लगा, 'आ हा हा हा ! . तब उसे भी भाव मालूम होता आटे-दाल का .लोग उसे कहते हैं न्यायी... . कैसा व्यंग है !!.. '

मनोहर के पास सोचने को बहुत है ; पर कमज़ोरी उसकी आँखों को मूँद रही है। आँख मींचते-मींचते उसने ऊपर की ओर मुँह कर जैसे ईश्वर पर थूक दिया। उसके मुँह से फिर ये शब्द निकले—'अभागे ने मेरा आलू छीन लिया।' बेताबी की उस हालत में, उसने लाचार होकर अपने चीथडों पर थूक लिया। वह लस्त होकर गिर पड़ा और वहीं सो गया।

जब वह सोकर उठा, उसका मन भारी था और साँझ घिर-सी आई थी।

उसका पराजित मन सोचने लगा कि अगर वह भिखमगा ही हो जाय तो क्या बुरा है ? शकल तो यूँ ही भिखमगों की है।

वह एक फूटी हँडिया ढूँढ़ने निकल पडा जिसमें वह गेहूँ और चावल के टूटे और अधटूटे कन सँजोकर रक्खेगा।

पहले दरवाजे वह माँगने चला। उसकी ज़बान ही न खुली और

वह बिना पुकारे आगे के दरवाज़े पर बढ़ गया, उसने कम-से-कम उस दरवाजे पर पुकारने का पक्का इरादा किया।

उसके सारे अस्तित्व को कुचलकर एक मरा सा शब्द निकला—'बाबूजी!' .....

उतनी धीमी आवाज़ पर कोई न निकला। उसने और ज़ोर से पुकारा—'बाबूजी!'

पर दूसरे ही क्षण इस आशंका से कि उसकी आवाज़ को सुनकर कोई निकल आयेगा, तो वह क्या कहेगा, उसने एकदम भाग जाना चाहा। वह अपने भिखमंगेपन पर हँसा। फिर दरवाजा छोड़ भाग निकला और बहुत दूर जाकर साँस ली। उसने हँड़िया को ज़ोर से पटक दिया। उसके कर्मशील स्वाभिमान को उसके भिखमंगे बनने पर विश्वास न आया। उसे उन लोगों पर घृणा हुई जो भीख माँगते हैं।

■ ■ ■

जब अँधियारी पूरी तरह छा गई तो वह अपनी बँसवारी की ओर बढ़ा।

रास्ते में उसका कोई पुराना परिचित मिल गया।

उसने पूछा—'कहो भाई! क्या हाल है? तुम तो दीखते भी नहीं! इतने उखड़े-उखड़े क्यों हो?'

इसका उत्तर मनोहर ने नहीं, मनोहर के पागलपन ने मुक्त-हास्य करते हुए दिया— तुम अपनी कहो! मुझे तो फुरसत ही नहीं मिलती। कहीं इसके यहाँ का नेवता, कहीं उसके यहाँ का।.. पूछने की क्या बात है? अभी ज़मींदार के यहाँ से लौट रहा हूँ। क्या करूँ खिलाये बिना मानता ही न था। फिर तो वह सोलहो मोहनभोग आये

कि क्या बताऊँ! पूरी, तरकारी, मिठाई, चटनी, नमकीन, फल सब कुछ। पर मैं खा सकूँ तब न? सब रखा रह गया, पर मैं खा ही न पाया।' मनोहर इस समय प्रसन्न था।

इसके बाद मनोहर और उसके साथी ने एक स्थान पर पहुँच कर, चिलम सुलगाई।

चिलम मनोहर के हाथ में देते हुए, उसके साथी ने कहा—'लगाओ दम, भैया। जिन्दगानी तो जिन्दगानी है। कटै जायगी। पर ऐसा दिन कभी देखा था।'

मनोहर ने चिलम का दम लगाते हुए और फैली हुई अँधियारी की तरफ देखकर मानों साथी के कथन के तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा—'कहो भैया, क्या एक चिलम तमाखू में भी विहान न होगा?—होगा, जरूर होगा। रोज-रोज अँधियारी थोड़े ही रहेगी। भगवान् हमारा भी तो है। जिन्दगानी भी है अजब चीज।' और वह गाने लगा:

झीनी झीनी रे बीनी चदरिया।
हाँ रे झीनी झीनी रे बीनी रे बीनी चदरिया॥
दास कबीर जतन से ओढी
हाँ दास कबीर जतन से ओढी
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया,
हाँ ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

वह राह नहीं

जिस समय उनकी यह पहली बेटी हुई थी, श्रीवल्लभ के यहाँ घी-दूध की नदियाँ बहती थी। इसी से, सगुन बिगड़ने पर भी उन्होने अपनी नवजात कन्या का स्वागत बड़े उछाह से नीहारिका जैसे तरल नाम के साथ किया था। तब से ता फिर जब से आमदनी घट कर दो सौ पर आ गई, श्रीवल्लभ ने अपनी बढ़ती हुई लड़की का नाम भी घटा कर नीरू कर दिया था।

इसी से जब सुरेन अन्दर आया, श्रीवल्लभ ने आवाज़ दी—'नीरू, सुरेन' और कहने के साथ ही एक सुन्दरी युवती, अन्दर को खुलनेवाले दरवाजे मे दीख पडी। युवती की उम्र अठारह के आस-पास जान पड़ती है। गोरा छरहरा बदन, कुछ-कुछ स्थिर-सी आँखें, सॅवारे हुए बाल और आसमानी रंग की जार्जेट की साड़ी।

सिर का आँचल ठीक करते हुए उसने नमस्ते की और सुरीली

आवाज़ में कहा—'सुरेन भैया, बाबूजी को अकेले में काम करने दीजिए। आइये हम अपने कमरे मे चलें।'

सुरेन नीहारिका का कोई होता-जाता नहीं; यह तो उसका पुकारने का ढग है। कारण सुरेन नीहारिका से छः-सात साल बड़ा है। सुरेन लड़का है श्रीवल्लभ के अनन्य दोस्त सुरेशचन्द्र का, जो स्वय आज नहीं हैं और इस तरह सुरेन अपने पिता का प्रतीक बन गया है।' सुरेन का बी० ए० तक का अध्ययन तो पिता की छाया मे हुआ और उसके बाद के दिनों में जो छाया उसे मिली है, वह और भी गहन तो है, बहुत शीतल, बहुत स्वर्गिक, पर वह साथ ही कुछ जवाब देहियों का सृजन करती है। कहना न होगा, वह छाया किसकी थी। अपने पिता की मृत्यु के बाद सुरेन ने दो विषयों में एम० ए० किया, अंग्रेजी और दर्शन। साधारण सम्पन्न गृहस्थी थी। जो कुछ रुपया सुरेन के पिता छोड गए थे, उसमे से कुछ सुरेन की चार साल की पढाई मे लगा और जो दस-पाँच हजार की रकम शेष है, उस पर धींगामस्ती नहीं की जा सकती। आखिर एक छोटी बहिन शादी करने के निमित्त है। सुरेन कुछ दिन इस टोह में रहा कि कुछ अच्छा काम मिल जाय, लेकिन अब ऐसी कोई आशा न रही तो एक स्थानीय इण्टरमीडिएट कालेज में सौ रुपया मासिक पर मास्टर हो रहा। साथ ही, आमदनी का एक छोटा-मोटा जरिया इम्तहान की कापियाँ थीं।

इस तरह नीहारिका के यहाँ सुरेन का आना-जाना अक्सर लगा रहता। उसकी तबीअत विशेष अनमनी हुई और वह चला आया इनके यहाँ और तब यदि सब नहीं तो कोई न कोई जरूर मिल जाता। श्रीवल्लभ से बात करने के लिए उसके पास दर्शन की उलझनें थीं, नीहारिका की वृद्धा चाची से भगवत् सुमिरन छेड़ सकता था और

स्वय नीहारिका तो सभी बातों पर भली तरह बात कर सकती थी और यों कभी-कभी वह सुरेन के सामने अपनी तर्कशास्त्र की परेशानियाँ भी रखती, जिन्हे सुलझाने में सुरेन विशेष रस लेता है। नीहारिका इस साल इण्टरमीडिएट का इम्तहान देगी। सुरेन की बहन प्रियम्बदा भी उसके साथ है यद्यपि वह उम्र में उससे दो साल कम है। सुरेन दोनो की पढाई का विशेष ध्यान रखता है तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं। दोनो के विषय एक ही हैं। इसलिए नीहारिका कभी प्रियम्बदा को अपने ही यहाँ बुला लेती है और कभी खुद उसके यहाँ चली जाती है। दोनों में बहुत बनती भी है, इस कारण यह कहना कि उनके बीच केवल स्कूली विषयो पर बातचीत होती होगी, भूल नहीं तो और क्या है।

(२)

श्रीवल्लभ को वकालत से मुहब्बत नहीं है। अपना, अपनी विधवा भावज का और नीहारिका का पेट चलाना है, तन ढाँकना है, इसलिए जुतना ही पड़ता है। नगर में टीम-टाम बनाए रखना है, इसलिए थोड़ा और। नीहारिका को मौके-बे-मौके नयी चलन का चूड़ियाँ, चौड़े किनारे की साड़ियाँ, सौन्दर्य के छोटे-मोटे अनेक प्रसाधन, सभी जुटाना पड़ता है, इसलिए थोड़ा और। गलती नीहारिका की भी रंचमात्र इसमें नहीं है। जब सौन्दर्य दिया, तो उसे सजाने के साधन ढूँढ़ने वह और कहाँ जाय ! कोई मन से गुलाब को मुरझाने नहीं देता। औसत लड़की है, बड़े लोगों में उठती बैठती है, सबकी आँखे उसके गौर वर्ण, उसकी सघनश्याम केशराशि, उसके सादे और असाधारण आकर्षक मुखड़े पर जमती हैं, नई उमर है, पहनने-ओढ़ने का शौक है—इससे ज़्यादा औचित्य और चाहिए ही क्या। फिर, श्रीवल्लभ बहुत उदार है।

श्रीवल्लभ जैसा उदार और सुसंस्कृत वृत्तियों के मनुष्य अगर गहराइयों और तथ्यों में डूबना चाहता है तो इसलिए कि वह और कुछ नहीं कर सकता। श्रीवल्लभ सुरेन को बहुत पसन्द करता है क्योंकि विवाद में मितभाषी होने के साथ ही वह मिष्टभाषी भी है। उसका मनन भी अपना है। सुरेन में वह सबसे ज्यादा जिस चीज की ओर खिंचता है, वह है सच का उसका निर्भीक कथन। इसलिए अक्सर शाम को बातचीत शुरू होने पर जब तक कई पहर रात न चला जाय, चाय के अनेक दौर न हो जायँ, दो-एक बार कुर्सियाँ न बदल ली जायँ, दोनों को एक समान ही मानो अपनी अपूर्णता ही काटती रहती है। नीहारिका को ये विवाद कुछ खास अच्छे नहीं मालूम होते, पर बातचीत के दौरान में वह कई बार झाँक जाती है—चंचल प्रकृति; इससे अगर श्रीवल्लभ एक हरीतिमा महसूस करता है तो सुरेन एक पुलक। विशेष कुछ नहीं। कुछ भी हो नीहारिका का यों झाँक-झाँक जाना सुरेन को सुहाना जरूर मालूम पड़ता है।

× × ×

श्रीवल्लभ का उस पर स्नेह और नीहारिका की ओर उसका औत्सुक्य दोनों ही सुरेन के मेल-मिलाप में वृद्धि करते रहे।

कुछ दिन बीत गये।

और दिन के साथ ही सुरेन की घनिष्ठता भी काफी बढ़ गयी। उसके ज्यादा आने-जाने और मेल जोल को देखकर मुहल्ले टोले वाले कुछ अनवस्थित से हुए। कुछ बुड्ढों ने उँगलियाँ उठाईं, कुछ बूढ़ियों ने दाँत तले उँगली देकर कलजुग और नई शिक्षा-दीक्षा का मुँह काला किया, कुछ मनचलों ने अपनी भाषा में अपना सन्देह प्रकट किया। और सुरेन की किस्मत पर रीझे। लेकिन जिस तरह यह

बात सुरेन को बिलकुल न छू सकी ठीक उसी तरह श्रीवल्लभ ने भी एक हार्दिक मुसकान के साथ यही कहा कि लोगो की बड़ी सख्या सन्देह की ही घाटी मे साँस लेना जानती है। उनकी भवों मे बल नहीं आ सकता था क्योंकि वे दोनों ही भरोसेदार जमीन पर खड़े थे।

और भी कुछ दिन बीत गये। नीहारिका और प्रियम्वदा दोनो ही परीक्षा में पास हो गई। गरमियो मे सुरेन माँ और बहिन को लेकर हरिद्वार चला गया। माँ की ऐसी इच्छा थी।

वहाँ पहुँचने पर नीहारिका के खत समान रूप से प्रियम्वदा और सुरेन के पास आते रहे। सुरेन के खतों मे नीहारिका बड़े मृदु विनीत भाव से उसके प्रति अपना आभार प्रकट करती और श्रद्धाञ्जलियाँ भेजती। सुरेन भी उतने ही अबोध रूप मे अपनी अयोग्यता की दुहाई देता, नीहारिका और उसके पिता के प्रति अपने को आभार-नत मानता—और इतना ही क्यों, एक खत मे तो वह उन्मादवश यहाँ तक लिख गया कि उसके जीवन में जो थोड़ा-बहुत प्रकाश है, उसकी देनेवाली नीहारिका ही है!

सुरेन लिखने को लिख तो गया, पर उसे डर बना रह कि नीहारिका इसका मतलब कहीं उल्टा न लगा ले। अततः जब उसका उत्तर आया तो वही उसकी घबराहट को मेट सका और तब मिली उसे आश्वस्ति। पत्र की धारा न सिर्फ और भी तरल और सहृदयतापूर्ण थी, बल्कि उसमे उसने अपने को पहिली बार स्वतन्त्रता से व्यक्त किया था; और नीहारिका की चोली के भीतर के स्पन्दन की जो पहिली झाँकी उसे मिली, उससे उसकी तृष्णा पछाड़े खाने लगी। एक जो अस्पष्ट लालसा उसके अन्दर दुबकी पडी थी, उसे अब ठीक मुद्रा मिल गई।

उस मुहूर्त में उसने अपने को कितना सुखी माना, यह आँकना कठिन जान पडा, इसलिए वह घूमते हुए मस्तिष्क मे उत्तर मे सिर्फ ये असगत पक्तियाँ लिख सका:—

'नीहारिका !

तुम्हारा खत मिला। कारणवश कुछ भी लिख सकने में अशक्त हूँ। पूरे ब्यरे के साथ फिर लिखूँगा। शुभाकाक्षाएँ,

विनीत,

सुरेन।'

खत लिखने के साथ ही सुरेन की माँ बीमार पड गईं। उन्हीं की तीमारदारी में दोनों, प्रियम्वदा और सुरेन, लगे रहे।

सुरेन का ऐसा अनिश्चित-सा पत्र पाकर कोई क्या चुप बैठ सकता था जो नीहारिका ही चुप बैठती। कुछ दिन उसने सुरेन के विस्तृत पत्र की प्रतीक्षा की, आखिर उसी पर उसका सारा दारोमदार था—और खासकर जब उसने अपनी ओर से बात आरम्भ करने की भूल कर ही डाली। सुरेन का खत पाकर उसकी मायूसी मे वृद्धि ही हुई। सान्त्वना या आश्वस्ति देनेवाली बात तो उसमें एक भी न थी। अब सारी आशा टिकी थी अगले पत्र पर—वही चाहे तो उसे मेट भी सकता है और बना भी। प्रणय की पहिली भिक्षा कहीं उसने अनुपयुक्त व्यक्ति से तो नहीं माँग ली है, जो कृपण हो, जो न गलने-वाले मसाले का बना हो—यह पुलक, यह सिहरन, इनका अन्त भी होगा ? होगा क्यों नहीं ! सुरेन सहृदय है। मै इतनी गलत नही हो सकती। वे उत्तर देंगे ही और दूसरा कुछ कह भी नहीं सकेंगे। पर मात्रा से अधिक उनका सकोच, विनय ?! प्रथम प्रणय की सारी चुभन उसे वेध रही थी।

उसने फिर लिखा और कारुणिक रूप मे अपने उद्वेग की चर्चा की—'आपको दूसरे की बेचैनी का ख्याल तो करना चाहिए !'

सुरेन जवाब न दे पाया। माँ बीमार थी। नीहारिका ने तब एक पत्र अलग से प्रियम्बदा को डाला।

प्रियम्बदा के उत्तर से कुछ आश्वस्ति हुई—'माँ बीमार हैं। हम और भैया दोनों ही रात की रात जग रहे हैं। माँ की हालत तो काफी बिगड़ चुकी थी पर अब भली है।'

(३)

मा के ठीक होते ही सुरेन सब को लेकर लखनऊ पहुँच गया। दूसरे दिन शाम को जब अपने पत्र की जगह सुरेन स्वयं, पर प्रियम्बदा को साथ लेकर, नीहारिका से मिला, तो एक मृदु 'नमस्ते' छोड़ नीहारिका कुछ न कह सकी, कुछ तो भावनाओं का ज्वार और कुछ प्रियम्बदा की उपस्थिति। यह सच है कि उसकी निगूढतम बात भी प्रियम्बदा से छिपी नहीं है, पर इससे क्या वह उसके सामने ही प्रणयालाप कर सकती है और सो भी उसी के बड़े भाई से ? तभी बड़े कौशल से उसने सुरेश को साधारण रूप मे नमस्ते कर किसी को थाह भी न लगने दी। पर जब वह प्रियम्बदा का आलिंगन कर रही थी, उसका दिमाग अजीब बातों से भर उठा था। वह ठीक तौर से भेंट भी न कर सकी, उसका पूरे अनुराग से स्वागत भी न कर सकी। सोच रही थी—इसे क्या कहूँ ? जान पडता है मुझसे, मेरे प्रश्नों से बचने ही के लिए बहिन को सग लिवाते आये हैं। कुछ समझ नहीं पड़ता। उसे इतनी साधारण बात नहीं समझ में आ रही थी कि छुट्टियों के बाद उनका पहिला मिलना है, प्रियम्बदा का आना भी जरूरी था।

दूसरे दिन सुरेन को अकेला पाकर नीहारिका ने अचकचा कर

कहा—'चलो, आप से मुलाकात हुई तो ? मैं तो सारी आस छोड़ ही चुकी थी।'

सुरेन ने सफाई पेश करने के से लहजे मे कहा—'क्यों ?'

नीहारिका ने कहा—'यों ही। कहिये हरिद्वार मे कैसे रहे ? जगह तो ठढी है ?'

सुरेन ने भी उसी तरह उत्तर दिया—'हाँ, जगह मामूली अच्छी है। लेकिन, मेरी दशा तो उन मिया जी सी हो गई न जो गए थे रोजा खोलने और नमाज को गले लगाये चले आये। ज्यादा अरसे तक तो मा बीमार ही रहीं—' इसके बाद सुरेन न जाने कहाँ से दृढ़ता उधार लेकर कविता की भाषा मे कह गया, उसे स्वय अचरज हुआ,—'लेकिन जो कुछ भी तकलीफ थी, उसे तुम्हारे खत दूर करते रहते थे। मैं नहीं बयान कर सकता कि तुम्हारे पत्रों से मुझे कितनी राहत मिली है। यकीन मानो, नीहारिका, कि उन्हीं खतों की रगीनी ने मुझे हरा कर दिया . '

नीहारिका पहले तो बहुत चौंकी—सुरेन ऐसी अभिव्यक्ति भी भला कर सकता है, आश्चर्य ! यह आदमी जो इतना मितभाषी है कि बोलते हुए डरता है, कि कहीं मन की बात बाहर न आ जाय—ऐसा सुरेन क्या इन उन्मुक्त भावनाओं का भी बदी हो सकता है ? नीहारिका के चौंकने का एक कारण और भी था, सुरेन ने पहले-पहल उसे 'तुम' पुकारा था।

सुरेन ने यह दूसरी गलती की, पहली गलती पत्र लिखकर की थी। लेकिन जिस तरह उस बार उसे शास्ति-दड तो दूर, और भी जीवनी शक्ति मिली थी, उसी तरह शायद इस बार भी। नीहारिका चौंकने के साथ ही, गई लजा—गुलाबी गाल लाल हो गए, होठों में

ज़रा-सी फड़कन हुई, आँखे चेष्टा करने पर भी अस्थिर हो गई, और पतला-सा, दो सोने की चूड़ियों वाला हाथ बरबस सिर पर की साडी ठीक करने लगा। सुरेन निहार रहा था कुछ तो नीहारिका के हृदय का स्पन्दन, (जिसका क्षीण अन्दाजा नीहारिका की साड़ी की उठती-गिरती पर्तों से लग रहा था) और कुछ अपनी उद्दडता और अनौचित्य और अनधिकार चेष्टा, जब नीहारिका ने अत्यन्त कोमल अस्फुट स्वर में कहा—'मीठी बाते कोई आप से सुन ले...' और आँखे जो धरती से उठाई व्यक्ति पर, तो वे जा टकराई अपने से ही दो पहरुओं से – सुरेन अनेक क्षणों से उस पर अपलक दृष्टि जमाए हुए था।

सुरेन एकाएक यह नहीं तय कर पाया कि नीहारिका के वाक्य का वह क्या मतलब ले। पर यह समझते उसे देर नहीं लगी कि उलाहने का इशारा नीहारिका के पत्र की ओर है। लेकिन इसके पहले कि वह अपनी कुछ सफाई पेश करे या कहे कि अब तो वह स्वय मूर्तिमान उत्तर बनकर आ गया है, नीहारिका अपना लजाया गात लेकर अदर चली गई थी।

सुरेन ने आँख उठा कर देखा कि अगले दरवाज़े का वेलवेटी पर्दा हिल रहा है।

× × ×

नीहारिका ठहरी श्रीवल्लभ की अकेली लड़की। और सो भी श्रीवल्लभ सा आदमी। इसलिए जब नीहारिका ने अपना मतव्य बतलाया कि वह बी० ए० भी कर लेना चाहती है, तो श्रीवल्लभ को किसी प्रकार का उज्र कैसे हो सकता था।

इस तरह करके छः मास या कुछ ज्यादा और निकल गये।

इस बीच सुरेन किन घाटियों और तराइयों के बीच से गुजर रहा

है, इसे उचित शक्ल में सामने रखना मुश्किल है, लेकिन नीहारिका को वह एकदम सहज-सुगम रूप मे ले सका हो, सो बात नहीं है। नीहारिका के लिए उसके अन्दर एक नरम तल है, इससे इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह एक बडे प्रश्नसूचक चिन्ह या गुत्थी की शक्ल में सामने आई है। प्रकृतिवश जितना ही उसने वैज्ञानिक रूप मे इसे सुलझाना चाहा है स्नेह की झिलमिल चादर ने उसे ऐसा करने से उतना ही नाकाम कर दिया है और एक अप्रत्याशित आकर्षण की डोर उसे जकड़ती रही है। पर पहला उन्माद भी उसे उखाड़कर बहा ले गया हो, सो नहीं है। शायद इसी कारण अब तक वह अपने को पूर्ण समर्पण नहीं कर पाया है और शायद इसी कारण वह स्वय अपने से इस बात को स्वीकार नहीं करता कि नीहारिका उसके खास लगाव की पात्री भी है। 'होगा' सुरेन कहता।

क्लबों वगैरह में, मित्रों में जब कभी नीहारिका की तरफ इशारा किया जाता तो अपनी अनगढ़ चुप्पी से वह बात को मर जाने देता, क्योंकि सुरेन को प्रेम का ज्वार भी उत्तरदायित्वहीन नहीं बना सका है। विशेषकर जब वह स्वयं निश्चित नहीं है, तो एक भद्र ललना को ऐसे गली-कूचों मे घसीटना उसे अप्रीतिकर लगता।

पर परिस्थिति को देख सवाल करने वालो की कमी तो नहीं थी। यही नहीं, कभी कभी सुरेन स्वय आश्चर्य करता कि श्रीवल्लभ ने जो उसे इतनी आज़ादी दे रखी है, क्या बिलकुल योंही? वह इसे बाबूजी का अटूट स्नेह कह कर टाल देता, लेकिन यह मानकर भी कि वह उसे नीहारिका के पास आने देना चाहते हैं, उसे दुःख न होता। मन ही मन वह श्रीवल्लभ की उदारता की सराहना करता, वह उदारता जो परस्पर खींचकर दो व्यक्तियों को एक मे मिल जाने का अवसर देती

है और सम्भवतः श्रीवल्लभ भी आश्वस्त हो चुके थे कि उनकी उदारता का नाजायज़ फायदा उठाये, सुरेन ऐसा नहीं है और अगर इस सब का अन्त होना ही है तो सुखद ही होगा। मुमकिन है कल्पना में उन्होंने दोनों को एक ही रज्जु में बाँध भी दिया हो। पर यह परिज्ञान पूर्ण चेतना के स्तर पर नहीं था।

एक बार कार्निवल आया हुआ था। नीहारिका ने सुरेन से कहा कि वह भी जाना चाहती है। सुरेन ने आह्लाद के साथ उसकी बात का समर्थन किया और नीहारिका को लेकर कार्निवल पहुँचा। यहाँ तक तो ठीक है, पर इसके बाद का इतिहास उतना सुखकर नहीं है। मुलाकात सुरेन के दोस्तों से भी हुई और नीहारिका की दोस्तनियों से भी। और सुरेन ने कोई भूल नहीं की अगर नीहारिका से भी उसी सौम्यता की आशा की जिस सौम्यता से उसने अपने मित्रों के उथले और कुछ अशों में अभद्र इंगितो को झेला था। नीहारिका को अपनी सखियों की ओर वैसा ही न बरतते देख उसे कुछ ठेस लगी, कुछ क्षोभ हुआ। पुरुष की बुराई हो सकना उतना सहज नहीं है, यह सुरेन को बतलाने की जरूरत न थी, लेकिन स्वयं नीहारिका के लिए उसे खिन्नता हुई। उसने नीहारिका की थाह ली थी और उस थाह को रंचमात्र भी झूठा पड़ता देख, उसका क्षोभ सगत था। नीहारिका ने भी इसको जाना और चुप रही।

(५)

यह सब तो होता ही रहता है और बरसात के पानी के साथ उगनेवाली घास के जमने सा सब ठीक हो जाता है। पर एक गाज जो श्रीवल्लभ पर गिरी उससे सँभलने का अवकाश उन्हें न मिला।

उनकी तरी कुछ ऐसे खड्ड में जा पड़ी कि अंततः उसने सबको अपने अंदर समेट लिया।

श्रीवल्लभ जैसे अव्यावहारिक पुरुष ने सलाह-मशविरे में पडकर कर डाला लाख का सट्टा। और सब कुछ खोकर बैठ गये। नुकसान होता रहा और वे आस लगाये उसमें पडे घाटे पर घाटा सहते रहे जब तक कि बिलकुल अयोग्य न हो गये। दिन गाढ़े कटने लगे। और फिर मुसीबतें आती भी ता गोल बाँधकर हैं। जरूरत हुई कर्ज़ की। एक मित्र ने मदद की। मित्र की मदद से ज्यादा खतरनाक कुछ होता भी नहीं। लेकिन जरूरत का दबाव, गरज। उससे भी भला कोई बचा है। श्रीवल्लभ सुरेन से इस बात को छिपाते रहे थे और कर्ज ले चुकने पर सुरेन को जब नीहारिका से यह बात मालूम हुई तो उसे ठेस लगी। इसलिए नहीं कि वह मदद कर ही सकता था बल्कि इसलिए, कि उसे गैर समझ कर अलग रक्खा गया था।

खैर यह हुआ तो तब जब कर्ज़ लिया जा चुका था और लिखी हुई और दिमाग में नक्श शर्तों का मीज़ान भी बन चुका था। बात असल में यह थी कि श्रीवल्लभ के उन मित्र ने मदद करने के साथ यह बात स्पष्ट करने में कोई कसर न छोड़ी कि वह नीहारिका को अपने बेटे पीतम कुमार की वधू के रूप में चाहते हैं। उन दोस्त ने कोई बुरी शर्त रक्खी हो, यह भी बात नहीं। कम से कम श्रीवल्लभ उसे ऐसी शक्ल में न ले सका। कुछ दोस्ताना, कुछ मौके का दबाव। नीहारिका की शादी भी आखिर करनी ही थी, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों। लडका भी बुरा कैसे कहा जाय, विलायत हो आया था, एक-दो उपाधियाँ भी साथ लाया था, साधारण स्वस्थ था, देखने-सुनने में भी बुरा नहीं था और फिर पुरुष में ये गुण बारीकी से

देखे भी कम जाते हैं। घर में पैसा भी अकूत था। सब से बड़ी बात तो थी मौके का दबाव, इस बात से अनभिज्ञ न रहते हुए भी कि पीतम कुमार ने विलायत में कम मुर्गियाँ मुर्गाबियाँ नहीं चुगाई हैं, और विलायत से लौट आने पर भी वह कुछ अक्ल साथ नहीं लाये हैं, श्रीवल्लभ ने नीहारिका से बिना पूछे जाँचे ही, स्वीकृति सी दे डाली।

बालिग लड़की नीहारिका, अपना भला बुरा सोच सकने में समर्थ, यह जानकर उसे हुआ अपरिमित क्षोभ और एक अस्पष्ट विद्रोह। पीतम कुमार का ऊँच-नीच उससे छिपा हुआ न था, उसकी रसिक मनोवृत्ति काफी स्थलों पर अपने को दरसा चुकी थी और नीहारिका उसे श्लाघ्य या श्रेयस्कर नहीं मान सकी, अपने को उसके साथ जोड़ना उसे व्यथाकारी लगा। उसने कई बार यही बात बाबू जी से कहनी भी चाही, अपनी असहमति कह डालने का साहस जुटाया, लेकिन उनकी हालत देख हिम्मत न पड़ी।

एक दफा उसने दबा हुआ इशारा किया भी, पर उत्तर में श्रीवल्लभ की कारुणिक मुसकराहट देख, सारी बात उसकी समझ में आ गई और अपनी भूल उसे प्रत्यक्ष हो गई। यह जानने में उसे देर न लगी कि उसके पिता ने यह प्रस्ताव, कुछ भी हो लज़क कर नहीं स्वीकार किया है।

यह विश्वास कर क्षोभ के स्थान पर उसमें वेदना का उदय हुआ, पर सुलगन एक दम बन्द न हुई।

सुरेन को भी इस खबर का पता चला, झटका भी कम न लगा। बहुत बुरी तरह उसने अपने में कहीं एक रुकाव की ठेस पाई, जैसे एक वेग से बहने वाले पहाड़ी नाले की राह एक भीषण चट्टान ने

रोक ली हो और नाला आगे न बढ़ सकने पर भी, पीछे हटने में अपने को अयोग्य पाता हो।...लेकिन सुरेन झटके झेलने जानता है।

इसलिए जब उसने बीमार श्रीवल्लभ को जाकर नमस्कार किया, बाबूजी को यह जानने मे एक पल की देर नहीं हुई कि सुरेन से इतिहास बताने की वेदना का शिकार उन्हे नहीं बनना पड़ेगा। सुरेन अपनी स्थिति को गलत नहीं समझना, श्रीवल्लभ ने अपने से कहा, और कहने के साथ ही आँखो मे आँसू उमड़ आये। सुरेन को आरपार दीख गया कि यह व्यक्ति आज असहाय है। उसने पूछा—'बाबूजी क्या कुछ कष्ट है?'

श्रीवल्लभ चुप रहे, पर आजादी के साथ उन्होने एक लम्बी साँस खींची। सुरेन मन ही मन व्यथा से और भी नत हो गया, और कुछ देर बैठकर, नीहारिका से बिना मिले ही घर वापस चला गया। श्रीवल्लभ के नीहारिका को आवाज़ देने पर सुरेन ने जरूरी काम का बहाना बना दिया।

नीहारिका जब कमरे में आई सुरेन जा चुका था और बाबूजी सुरेन मे ही उलझे हुए सो गये थे।

(६)

दूसरे दिन जब वह कालिज से घर लौटा, प्रियम्बदा ने उसे एक पुर्जा दिया और कहा—'इसे नीहारिका दीदी का छोकरा दे गया था। आपके लिए है, जरूरी।'

सुरेन ने पुर्जा लिया और देखा। सिर्फ एक वाक्य था कि वह सुरेन से जरूरी काम के लिए मिलना चाहती है। सुरेन बहुत अच-

कचाया और कोशिश करने पर भी किसी ऐसे जरूरी काम के बारे में न सोच सका, जिसके लिए नीहारिका उससे मिलने को आतुर हो। फिर यह सोचकर कि यो ही मिलना चाहती होगी उसने पुर्जा मोड़कर जेब में डाल लिया।

साँझ ढलते ही नीहारिका से मिलने गया और बाबूजी के कमरे को पार करता हुआ, सीधा बाज़ की तेजी से नीहारिका के कमरे मे दाखिल हुआ। वहाँ उसकी हालत देखकर उसे कम आश्चर्य न हुआ। उसके आस-पास की चीजे बुरी तरह तितर-बितर थीं, गोया वे न सिर्फ बिखर गई हों बल्कि उन्हें बिखेरा गया हो। उसकी ड्रेसिंग-टेबुल के प्रसाधन अलग अस्त-व्यस्त थे। कुर्सी-मेजे भी घसीटकर इधर की उधर करके छोड़ दी गई थीं। कोई चीज़ यथास्थान न थी। किताबें अलग ही ग़दर मे सो-जाग रही थीं।

और इन्हीं के बीच सो-जाग रही थी नीहारिका, सोफे पर—नागिन सी लटें खुलकर आधे माथे को छाये हुए, नीचे को झूलती हुई।

नीहारिका सो नहीं रही थी, थी लेटी हुई। जैसे सुरेन ने हाथ जोड़ 'नमस्ते' किया उसका जवाब दिया नीहारिका की सूजी हुई आँखों ने—हूँ! लेकिन उन सूजी हुई आँखों मे, उसने पाये न सिर्फ आँसू, बल्कि पायी एक असाधारण ज्योति, एक अनोखी चमक। जिसे मौलिक रूप में नीहारिका की मानते हुए उसे हिचक हुई। आँखें सूनी नहीं हैं, कुछ कहना चाहती हैं, कह रही हैं—संभवतः आग की एक लपट जो दृढ़ता की सूचना देती है। लेकिन आँखों में आँखे डालकर तो वह जैसे समा गया। नहीं पूछ सका उस क्रान्तिमयी वेदना का कारण—वह तो सुधबुध खो उन्हीं आँखों में तब तक के लिए डूब गया, जब तक स्वयं

नीहारिका ने उसे अपने वाक्य के साथ नहीं झकझोरा—'मैंने आपको बुलाया है। कुछ ज़रूरी बात करनी है।'

जिस बात का आमुख इतना तीव्र है, वह स्वय कैसी होगी ! अपने उत्तरदायित्व के विचार से सुरेन भयाकुल हो उठा।

सुरेन ने कहा—'प्रियबम्दा ने पुर्जा दिया था। मै ज़रूरी काम समझ जल्द से जल्द आया हूँ।'

नीहारिका ने आँचल ठीक करते हुए सार्थक ढङ्ग से कहा—'हाँ, काम जरूरी ही है। अपने विवाह के बारे में तुमसे सलाह चाहती हूँ। मुझे तो कुछ सूझ नहीं पड़ता।'

सुरेन ने कहना चाहा—'बाबूजी ने ही सब किया है, मेरी सलाह क्या हो सकती है, नीहारिका . !'

लेकिन नीहारिका जब तक ज्वार है, कहेगी ज्यादा सुनेगी कम, बहुत कम , भाटे का हाल जानने को उत्सुक वह नहीं है। बोली—'मुझे लगता है मेरे साथ अन्याय किया गया है। मैं मानती हूँ, मानने के लिए मुझे मजबूर होना पड़ता है कि अन्याय अन्याय है, चाहे वह दबाव से ही प्रेरित क्यों न हो। जानती हूँ यह तिक्त भी है विषाक्त भी, पर इसे किसी तरह से मैं झेल सकने में असमर्थ हूँ।'

सुरेन बोला—'मैं अज्ञान की दुहाई देना चाहता हूँ, नीहारिका !'

'सिर्फ दुहाई देने से अगर चलता होता, तो दुनिया आज इतनी पामाल क्यों होती, सुरेन ! नहीं, तुम अज्ञान की दुहाई नहीं दे सकोगे। जहाँ तुम अपने को सहमत पाओगे वहाँ तुम हाँ कहोगे—उसे पचाकर मेरे गले पर छुरी रेतने की यदि लिप्सा हो तो दूसरी बात है ! मुझे यह भी बताने की ज़रूरत नहीं कि मैं आज औसत नहीं हूँ। औसत में तो व्यक्ति दुःख को गले लगाता है, अन्याय की सँपीली

आँखों मे आँख डालकर धन्य हो जाता है, दूसरों के साथ बैठ सम-वेदना की मदिरा ढालने को कहता है, मैं जानती हूँ। मुझे शर्म नहीं है कि मेरा क्षोभ औसत नहीं है।'

नारी एक पहेली है, सम्भवतः विधना भी उसे नहीं बूझ सकता, अपनी काया के पार चले जाने की शक्ति उसकी कितनी निविड़ है। सुरेन अपने को संयत कर कहता है—'पर नीहारिका, क्षमा करोगी, तुम अपने उद्वेग में अपने पिताजी और मुझ पर अन्याय कर रही हो।'

'—मैं? जिससे उसकी सलाह भी न ली गई कि वह किस विला-यती बैल के साथ बाँधी जा रही है?'

'बाबूजी ने समझा कि तुम्हे इसमें आपत्ति नहीं हो सकेगी। उन्होने भूल सम्भवतः यही की कि अपनी ही आँख की पुतली-सी लड़की से विनत भाव की आशा की!'

नीहारिका ने बल खाकर कहा—'तुम मेरे साथ अन्याय कर रहे हो, सुरेन?'

'क्या मै तुम पर अन्याय करने निकलूँगा, जो कम तप्त आज नहीं हूँ। बल नहीं खाता इसी से समझती हो शान्त हूँ। मेरे पास क्षुब्ध होने को क्या कम कारण है! बहुत परख चुकने पर जिसे अपनाया, जिसे पाने के लिये अपने को सुखाया वही छीन ली जाय, कल्पना के शिखर पर से आशा की और वहीं से ठेल दिया गया—यह गाथा क्या कम करुण है? तुम्हीं बोलो न?'

पर नीहारिका चुप, सिसकती रही।

सुरेन ने कहना जारी रक्खा—'मुझे अपना सन्तुलन खो देने पर मजबूर न करो, नीहारिका, मुझमे पेच-ओ-ताब की कमी नहीं है। वे

दीख नहीं पड़ते, यही मेरी बचत है : मुझ पर निर्ममता कम आघात नहीं करती, नीहारिका। पहले प्रणय के प्रति मानव का मोह बहुत होता है और सो भी जब एक नीहारिका अपने को समर्पण करने को बाहर आ गयी हो...मुझसे ज्यादा सवाल न करो, नीहार। मैं अपने से बहुत डरता हूँ, ब...हु...त !'

नीहारिका बोल उठी—'तो तुम कायर हो। आग से घबराते हो।'

सुरेन समझ नहीं सकता नीहारिका आज क्या कहना चाह रही है। उसे आतंक-सा लगने लगता है जब वह कह जाता है—'मैं वैसा कायर नहीं हूँ, नीहारिका। परिणाम से भी नहीं घबराता, पर एक अबोध-निर्बोध व्यक्तित्व को अपने साथ ही हनन की भट्ठी में झोंकने से आतक मालूम होता है।'

'तो क्यो न फिर दो क्षुब्ध व्यक्ति मिलकर समाज के ख़िलाफ़ बग़ावत कर दें .... विद्रोह।'

सुरेन ने प्रश्न के साथ पैर के नीचे की ज़मीन खिसकती महसूस की—'मतलब ?'

नीहारिका ने सारी आकुलता को समेट कर संयम में भर लिया और कहा—'मतलब, मैंने सारी तैयारी कर डाली है। हम लोग भाग चलें। ज़रूरत अनुभव होने पर शादी के बाद पिताजी को...'

जैसे अगारे पर पैर पड़ गया हो, सुरेन ने बीच में ही चीखकर कहा—'बस बस...' और थोड़ी देर को थका-सा चुप हो रहा। अब और वह नहीं सुन सकता। और सुन सकने की ताब उसमें नहीं है! उसकी मुद्रा में अपरिमित, घोर काठिन्य आ गया, यद्यपि चेहरा क्लाति का ही ढिंढोरा पीट रहा था। उसका चेहरा तमतमा उठा, जड़ें हिल उठीं, जब उसने कहा—'नीहारिका मैं और कुछ नहीं सुनना चाहता,

मैं अभिशप्त नहीं होना चाहता। मैं कातर नहीं हूँ। पर तुम्हारे इस प्रस्ताव ने मेरी रीढ़ बुरी तरह तोड़ दी है! तुमने अपने साथ और मेरे साथ अन्याय किया है। अब मुझे जाना ही होगा। मै जा रहा हूँ। यद्यपि तुमसे हटकर अपनी कल्पना भी मैं नहीं कर सकता। मुझे जाना ही होगा, नीहारिका। काश तुम मेरे दारुण सन्ताप का एक ज़र्रा भी अपना पातीं! मैं आज चला जाऊँगा। मैं कातर हूँ।'

सुरेन दरवाज़े की तरफ बढ़ा। फिर जैसे एकाएक उसे कोई भूली बात याद आ गयी हो, रुकता हुआ, रोष के साथ बोला—'तुम्हारे इस प्रस्ताव के नैतिक पक्ष पर बोलने के लिए या तुम्हें लाञ्छित-प्रताड़ित करने के लिए अभी न मुझमें क्षमता है, न इतनी उदारता ही और न ही इतना भरोसा और न ऐसा बाँध जो मेरी उमड़न को सीमित कर दे। और न इतना अलगाव। प्लावन के बीच मुझे स्वय टेक के लिए जमीन चाहिए, तुम्हारे ऊपर कुछ कह सकूँ, इतना शक्ति-शाली मैं नहीं हूँ! पर तुमको इस वक्त भी सारे जोश के साथ सुनाना चाहता हूँ कि जिसे तुमने भूल से विद्रोह की सज्ञा दी है, वह विद्रोह नहीं है, विशृंखलता है। ऐसे विद्रोह से समाज अपने अन्याय और वैषम्य मे दृढ़ता पाता है, ढहता नहीं। इसकी मूठ अपने ही सिर पर गिरती है। एक बात और। तुम मानोगी, नीहारिका, कि समाज एक बिजली के सञ्चालन का नाम है। हम ख़ुद तो कुरबान हो सकते हैं। लेकिन ऐसी अनर्गल प्रेरणा से सारे समाज को 'शार्ट सरकिट' करने का अधिकार हमें-तुम्हे किसी को नहीं मिला हुआ है। तुम यही करने के लिए मुझे कहती हो। पर मै तुमसे एक सवाल पूछना चाहता हूँ। क्या तुम सारे आतप-विपत के बीच, सबके विरुद्ध मुझसे शादी करने को तैयार हो? जिसमे तुम मुझे आगे चलकर कातर न पुकार सको, इसलिए मैं कह

दूँ कि मैं हूँ। मैं उस सूरत मे चाहे जिसके ख़िलाफ़ बग़ावत कर सकूँगा। बोलो..... ?

नीहारिका ने असहाय होकर सिर झुका लिया और कुछ कहना चाहा .

सुरेन अपने आवेश को रोक नहीं सका, 'नीहारिका, इसी पर था सारा दारोमदार। तुम साथ नही आ सकीं। अब मुझे वेदर्दी छोड़ दूसरा चारा नहीं है। मुझे यह भी बतलाने की जरूरत नहीं है कि कुल्हाड़े का वार मुझ पर रत्ती मात्र भी कम नहीं है। मुझसे ज़्यादा इसे कौन जान सकता है। पर अब बोलने को मन नही करता। लगता है तेलहन की जगह किसी ने मुझे ही चक्की मे डाल दिया है। मैं आज ही चला जाऊँगा और फिर तुम्हारे हाथ का ही खत मुझे वापिस कर सकेगा, जब तुम्हारी भूल का परिज्ञान मुझे माफ कर देगा और तुम मुझे दुतकारना न चाहोगी। नीहारिका यह मेरा दैन्य बोल रहा है, अहकार नहीं। मैं स्वय अपने को निर्वासित कर आज चला जाऊँगा, पर उस सारी आभा, ज्योति, प्रकाश और हरीतिमा के लिए तुम्हारा आभार मानकर मैं उसे कम नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ, मैं आत्म-हनन कर रहा हूँ।'

नीहारिका ने जब धरती में गड़ी हुई आँखे ऊपर उठाईं, सुरेन चला जा रहा था। नीहारिका ने ग़श की हालत में देखा सुरेन को पार करते पहला कमरा—ड्राइग रूम—बरामदा। नीहारिका ने एक बार दबी आवाज़ से पुकारा भी 'सुरेन', पर पुकार निस्तब्धता का ही अग बन रह गयी।

जब तक सुरेन कराह की अतुल राशि बना दीखता रहा, नीहारिका उसे एकटक निहारती रही। पर जब आँख के नगीने में वह आकृति

बुझ चली, नीहारिका ने महसूस किया कि वही चीज़ अब उसके अन्दर के नगीने में नक्श हो चली है।

और उसके एकदम ओझल हो जाने पर वह अपनी उलझी पलकों में से झांकते मन को असहाय छोड़ बेहोश होकर कोच में गिर पड़ी.....

असलियत की रोशनी में

यह शहर का एक अँधेरा कोना है जिसे संसार अपने से अलग रखता है और इसमें अपना क्षेम मानता है। अँधेरा पर वासना के प्रकाश से जगमग। उस सुनहले-रुपहले मादक प्रकाश से लिप्सा झाँकती है, झाँक-झाँककर इठलाती है, कनखियाँ मारती है। यहाँ के बाज़ार में दिन को सियापा छाया रहता है और रात को उद्दाम प्रकाश। यह चन्द्र की ज्योत्सना नहीं, क्योंकि यह उस शारदीय शीत-लता से वंचित है, जुगनू का क्षणिक प्रकाश भी नहीं, क्योंकि यहाँ के निवासियों का यह क्षणिक आवेश नहीं, प्रति रात्रि की चर्या है। और भी यह क्षणिक इसलिए नहीं, क्योंकि इसी में यहाँ के लोग मुक्ति पाते हैं और हँस देते हैं उन गधों पर जो कहते हैं कि—यह क्षणिक उन्माद है। नष्ट हो जायगा। चेतो! जीवन में तुम्हारा भी कर्तव्य है। पथभ्रष्ट न होओ!

सुनकर ये लोग ख़ूब जी खोलकर हँसते हैं। ऐसी हँसी जिसका अर्थ केवल वे ही जानते हैं और ऐसी हँसी जो उस सन्देश-वाहक का मुँह फीका कर देती है और उसे लगता है कि वह जो उन्हें रोशनी देने आया था शायद ख़ुद भी ज्यादा रोशनी में नहीं है।

(२)

सरूप के नाम के बारे मे कोई ग़लती नहीं हो सकती, क्योंकि उसे हर कोई इसी नाम से जानता है। मुहल्ले की हर जवान औरत जानती है कि वह सरूप के साथ मे निर्जन वीरान अकेले मे भी सुरक्षित है—इसलिए नहीं कि सरूप अपनी लिप्साओं को जीत चुका है बल्कि इसलिए कि उसकी लिप्सा गन्दी नालियों में बहती है और कीचड़ पर ज़िन्दा रहती है। एक कुमारी की ओर ताकने के लिए जिस आत्मा की लाली की ज़रूरत होती है उसे सरूप कब का रूप की हाट मे गँवा आया है—सोते मे नहीं, जागते-जागते। इसीलिए कि वेश्या के पास अपनी उच्छृङ्खलता को लेकर जाने में उसकी आत्मा को व्यथा नहीं होती, इसीलिए!

यों ही जब कभी सरूप अपने मुहल्ले से गुज़रता है, तो खेलते हुए बच्चों को देखकर उसकी इच्छा होती है कि उन्हें गोद मे ले ले। पर उसे यह अधिकार नहीं है। वह समाज का एक कलुषित अङ्ग है। अक्सर तो उसे इस अलगाव-दुराव की परवाह नहीं रहती, पर कभी-कभी उसका व्यक्तित्व इस पथरीले भार के नीचे पिसता हुआ रो पड़ता है, और ऐसे मौक़ों पर उस पर कुछ कुहासा-सा छा जाता है और उसे कोई कमी किसी ओर दीख पड़ती है। लेकिन जल्दी ही कुहासा दूर हो जाता है। और वह एक मिनट में बारह क़दम उठाता हुआ,

बालाप्रसाद की शराब की दूकान, नन्हीं की गिलौरियों की दूकान, जेफरसन की कोकीन की पोशीदा दूकान को पार करके शम्मों के दरवाज़े पर पहुँच जाता है, अपने जूते पर पड़ी हुई गर्द पोंछ डालता है, तंज़ेब के कुर्ते में थोड़ी चूनट और डाल लेता है, अपनी किश्तीनुमा बारीक टोपी ज़रा और एक ओर को झुका लेता है।

(३)

उसकी एक बुड्ढी माँ है। उनका रिश्ता भी अजब ऊटपटाँग है। सरूप को कभी अपनी माँ से कुछ नहीं कहना होता। रात भर कीचड़ मे पडे रहने के बाद जब वह घर लौटता है तो सिर्फ़ भठियारिन की सराय मे आँख मूँदने के लिए। अपनी झोलदार चारपाई पर आकर कीड़े की तरह पड़ रहता है। उनके बीच कोई बात नहीं उठती। जो बात उठती भी है वह सिर्फ 'खाओगे?' प्रश्न के घेरे मे। उत्तर में या तो सरूप उठ बैठता है, या उसी बे-सिर पैर तरीक़े पर लेटा रहता है—नीरव और भीत।

जीवन में इतनी घोर विषमता, इतना उच्छृङ्खल यौवन, इतनी छिपी उदासी लेकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, आश्चर्य है! सरूप अनेक बार सोचता है कि अपनी इस सारी बुराई को लेकर वह माँ से क्या कहे? उसके पास कहने को बचा ही क्या! अपने पर उसे भरोसा नहीं फिर यों ही दुखा हुआ दिल और एक चोट से फटकर परे न जा पड़ेगा?

वृत्तियों का सुधार होते कभी सुना है? कैसे? कोई पथ नहीं सूझ पड़ता। वह शराब भी पीता है पर क्यो? अपने लिए नहीं। अपने अन्दर बैठे हुए उस भले-बुरे के आलोचक को धोखा देने के लिए।

जब वह अपने को सुधारने का प्रस्ताव करता है तो न मालूम कौन उसके अन्दर बैठा हुआ ठहाका मारकर हँसने लगता है :

ओ—हो—हो—हो !

उस क़हक़हे को सरूप आँख फाड़कर देखता और कान लगा कर सुनता है—

ओ—हो—हो—हो ! सुधार करोगे ? कितने भोले और नादान हो ? हा-हा-हा ! इस पथ पर आकर भला कोई लौटा है ! छोड़ो भी, अपनी मूर्खता छोड़ो और जितने नीचे गड्ढे में और जा सको जा गिरो। इसी मे तुम्हारी सफलता है, समझे ?

फिर वह सुनता है कि उसी ने आज्ञा भी दी :

ले जाओ ! इसे छूटने मत दो। मौक़े पर पगली घंटी बजाना। चार बेड़ियाँ हाथों में और सोलह पैरों मे डाल दो।

(४)

जब सरूप की माँ इस सारी विषमता के नीचे पिसकर मर गयी तो उसे एकाएक यह न सूझ पड़ा कि वह करे क्या ? पर रास्ता तो बहुत सीधा है...तीन हाथ का सफेद कपड़ा, लकड़ी के दो गट्ठर जो ख़ूब सुलगे। और बस !

माँ की अन्त्येष्टि करके सरूप घर लौट आया, और अपने बीच से चटख़े हुए मटमैले आइने के सामने खड़े होकर उसने बालो मे तेल डाला, बाल सँवारे, कुर्त्ता पहिना, टोपी को ठीक कोण पर झुकाया और उसने अपने को मंज़िल तै करने के लिए तैयार पाया। लेकिन दूसरे ही पल उसे भूल मालूम पड़ी। नोचकर टोपी चारपाई पर फेंक दी, कुर्त्ता सीने पर फाड़ दिया और उसका मुँह भी उदास हो पड़ा।

उसी तरह बैठे-बैठे रात होने आई और घना अँधियारा छा गया। बिना जाने कि वह कहाँ जा रहा है, उसके पैर उठने लगे।

तब वह श्मशान पर पहुँच गया। जहाँ उसने सबेरे माँ को फूँका था। सरूप झुका। उसके भाव दीन हो गये। वहाँ की उसने राख उठाई और उसे बडे चिन्तन से माथे दिया। आँखो मे आँसू छा गये।

ज़िन्दगी मे जिस माँ से कभी नहीं बोला, उसकी तोला भर राख से मानो अपने अस्तित्व को झकझोर कर उसने कहा—तू देवी थी। तेरा नालायक़ बेटा तुझे कोई सुख कभी न दे सका। फ़िर भी वह तेरा बेटा है। माँ, उसके अवगुण तुम चित न धरो। भगवान् सब का है और वह मेरा भी है।

अन्तिम शब्दों को कहते हुए उसने अपनी छाती को पूरे बल से दबा लिया, मानो भीतर के अपने भगवान् को कभी भी वह कहीं न जाने देगा।

(५)

एक शाम को शम्मों ने बतलाया कि उसकी छाती मे दर्द होता है। और डाक्टर का कहना है कि उसे तेज प्लूरिसी है।

सरूप ने सुन लिया, उसी तरह जैसे कोई गेहूँ या रूई का भाव या तीतर और बटेर के नाम सुनता है।

काफी मशहूर वेश्या शम्मो और उसको प्लूरिसी हो जाय, यह बात किसी भी तरह मामूली नहीं पुकारी जा सकती।

हर जगह के डाक्टर ऊँची रक़मों पर आये।

(६)

फिर सरूप ने सुना कि शम्मो मर गई। पर उसके भावों मे कोई

मोड़ न था—कोई घुमाव नहीं, कोई रंगों की विभिन्नता नहीं। वह प्रकृतिस्थ बैठा रहा। वह अपने मे पूरी तरह समाया हुआ था।

उसने शम्मो के मर जाने की ख़बर लगभग उसी तरह सुनी, जैसे कोई बिल्ली के बच्चे का टंकी में डूबना सुनता है।

... ...

बेहद घनी अँधियारी रात थी। सरूप आज फिर चला आ रहा था। उसके बदन पर वही एक दो जगह से चिथा झीना कुरता था, सिर पर वही किश्तीनुमा बारीक टोपी थी और पैर में पेटेन्ट जूता था, बदन पर नाखूनी किनारे की धोती। उसकी भंगिमा में कोई अस्त-व्यस्तता लेश भी न थी।

वह कलवरिया से ठर्रा पिये मस्त झूमता चला आ रहा था, अपने को रूप की खान समझता हुआ।

धीरे-धीरे बालाप्रसाद की दूकान को पार कर, वह नन्हीं की गिलौरियो की दूकान पर आ खड़ा हुआ। और कितनी ही गिलौरियों को उठाकर मुँह में भर लिया। सरूप को शम्मों की मृत्यु का दुःख न मनाते हुए देखकर नन्हीं ने जैसे टोका—'बाबूजी, शम्मो जान नहीं हैं!'

सरूप ने बेफिक्री से जवाब दिया—'सो तो जानता हूँ।'

और अपने में मस्त झूमता हुआ आगे बढ़ गया!

स्वभाववश वह शम्मों के कोठे पर चढ़ गया। पर वहाँ पर ताला बन्द था।

अपनी अतृप्ति को लिये हुए वह नीचे उतरा मानों मरी शम्मों को कोस रहा था।

बग़ल की अज़ूरी ने उसको अपने कोठे पर चढ़ते देखकर अचंभा किया, क्योंकि उसका विचार था सरूप शम्मों को प्रेम करता है।

मतवाले सरूप ने अपनी धोती बारीकी से सँभाल ली, किश्तीनुमा टोपी को ठीक कोण पर झुका लिया और सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ अज़ूरी के कोठे पर बिछे हुए मिर्ज़ापुरी क़ालीन पर जा बैठ गया।

अज़ूरी ने भी खबर दी—'शम्मो जान अब नहीं हैं!'

सरूप ने हँसकर उत्तर दिया—'सो तो जानता हूँ।'

मानों पानी पीने का शीशे का गिलास टूट जाने पर वह बाज़ार से दूसरा ख़रीदने के लिए निकला हो!

शरीफ़े

चित्र में आप देख रहे हैं : एक ढहती हुई मेड़ के किनारे एक ठूँठ, और ठूँठ से सटकर एक नयी कोपलोंवाला नन्हा-सा पौधा—

कहानी में आप पढ़ रहे हैं: एक असमथल जीवन ; बूढ़ा और उसका रञ्जन।

बात एक ही है, केवल व्यक्त करने का ढङ्ग।

गाँव में यह बहुत कम दायरेवाला कुनबा मशहूर है और लोग इन्हें क्यों जानते हैं, इसकी भी वजह है।...

...आदमी से लेकर पेड़, पल्लव, लता, विटप, फूल, ईंट, गारा, गाय, बैल सब इस बात को जानते हैं कि बुड्ढे के रञ्जन को शरीफे सब फलों से ज्यादा भाते हैं। ऐसा क्यों है, यह कोई न तो जानता है और न जानने की कोशिश करता है ; लेकिन बुड्ढे ने रञ्जन की इस नायाब पसंद का क़िस्सा दर्जनों बार लोगों को सुनाया है। कुछ को

ऊब मालूम देती है, कुछ उसके इस भोलेपन में रस लेते हैं, कदर सब करते हैं। लेकिन बुड्ढे को इससे कोई सरोकार नही...उसे तो सबको बतला देना है कि उसके रञ्जन को शरीफे बहुत अच्छे लगते हैं। और बस।

शरीफों के दिन आये। बाग़ शरीफो से लद गया, बाज़ार पट गया। फल बेचनेवाली गाँव में भी टोकरियाँ और झाँपियाँ भर-भरकर शरीफे लाई। अच्छे, बड़े, ख़ूबसूरत और पके हुए शरीफे।

रञ्जन ने शरीफे खाये, मन भरकर खाये। और जैसे-जैसे खाता गया, उनके बीज भी मकान के पिछवाडे गड़ते रहे, छितराये जाते रहे और रञ्जन की नन्हीं अँजुलियो में चढकर, पानी भी उन तक पहुँचा, पहुँचता रहा

लेकिन बीज ठीक से रोपे भी न जा सके थे और अँजुलियों का पानी पूरी तरह सूखा भी न था कि रञ्जन बीमार पड़ा और दो (या और सच कहे तो ढाई) दिन की बीमारी के बाद, जाता रहा। किसी ने कहा गर्दनतोड बुख़ार, किसी ने कहा जादू-टोना, किसी ने कहा कुछ। लेकिन गर्दनतोड़ हो, या जादू-टोना या और कुछ, इन सबसे ज्यादा स्पष्ट तो यह था कि उन शरीफों के बीज अनरोपे ही छूट गये और अँजुलियों का पानी पूरी तरह सूख भी न पाया कि रञ्जन चला गया: उस नई कोपलोवाले पौधे को बर्फानी हवाओं ने सुला दिया।

...हिना तो पत्थर पर पिस जाने पर ही रग लाती है; लेकिन उन शरीफे के बीजों ने तो यूँ ही छितरा दिये जाने पर भी, कोई चार महीने बाद रग दिखलाया और ज़रा ज़रा-सा सर निकालकर, आँखे मलकर ससार को झाँका।

कोई चार-चार इच के अँकुए दीख पड़े।

बूढ़े ने सूनेपन में साथी पाया और महसूस किया कि उन अँकुओं में रञ्जन ही फिर आ गया है—हँसता है, किलकारियाँ भरता है, आँखमुँदौवल खेलना चाहता है। अँकुओं में रञ्जन ! कैसी उल्टी बात है। लेकिन रञ्जन का बूढा तार्किक नहीं है।

और इस तरह वे अँकुए बूढ़े की वत्सल गोद में बढ़ते रहे। एक दिन बूढ़े को यकायक सूझा कि घाम लगकर वे अबोध अँकुए कुम्हला, मुर्झा और झुलस भी जा सकते हैं। बस फिर क्या था ? बूटी हड्डियाँ, सुबह से लेकर दोपहर तक जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ा ; लेकिन दोपहर होते-होते बचाव के लिए एक टट्टर भी बँध गया। वह अरहर के सूखे झाड़ लाया, केले के पत्ते लाया और जब दोपहर को उनका बचाव घाम से हो गया और उसने हर कोण से देखकर अपना समाधान कर लिया कि वे अँकुए अब सहार से परे हैं, तो कहीं जाकर उसे चैन मिला। बूढ़ा सोच रहा है: अब बेचारे घाम से सुरक्षित हैं और बड़े होंगे।

लेकिन बूढ़ा साथ ही और भी सोच रहा है: राह में रोड़ों की कमी नहीं है, ख़तरों पर ख़तरे। इनका बचाव अब बकरियों और दूसरे मवेशियों से करना होगा। चरवाहे तो बला के लापरवाह होते हैं, उन्हें क्या ग़म कि किसका क्या नुक़सान होता है !

और फिर तो, बुड्ढे का निगहबानी के लिए वहाँ बैठना लाज़िमी हो गया और जो कोई देखता, उसे पास ही बैठा हुआ देखता, कभी रस्सी बटते, कभी टोकरी बुनते: एक आदिम टीले की तरह एक जगह, एक मुद्रा में।

यों-यों करके वे अँकुए ताक़त पाने लगे।

जैसे कभी किसी अनहोनी बुलबुल ने सीना काँटों मे चुभाये हुए,

हृदय के खून से एक सफेद गुलाब को सुर्ख कर दिया था, उसी तरह बुड्ढे ने भी उन अँकुओं को सींचा, पाला, पोसा...

■ ■ ■

और फिर क्या कहें। एक सुबह जब उसने देखा कि वे बदनसीब अँकुए वेदर्दी से रौंदे पड़े हैं, तो उसे करीब-क़रीब उतनी ही चोट पहुँची, जितनी चार महीने पहले ऐसे ही एक दूसरे नन्हें पौधे को रौंदा जाते देखकर हुई थी। और उसने महसूस किया कि उसके अन्दर की एक बहुत बड़ी जीवनीशक्ति यकायक निकल गयी है।

प्रोफेसर साहब

गर्मी के मौसम हैं। दिन के बारह बजे हैं। धूप सख्त है, उमस है। जब पीपल के पत्ते जरा डोलते हैं, तब हवा बालू के गरम दानों की तरह बदन में लगती है। एक कालेज में, जिसकी हवेली लाल रंग की है और जिस पर खपरैल छायी हुई है, लड़के बैठे हुए हैं। अन्दर घनी मूँछों और कामुकता के कारण स्याही-लिये-हुए-सुर्ख रंग वाले प्रोफेसर साहब, जिनका चेहरा बहुत चौड़ा है, गलमुच्छे रखता है और जिनकी फूली हुई नाक पर मोटी डण्डी का एक चश्मा है, लेक्चर दे रहे हैं। बाहर गरम लू के बीच पखा कुली पंखा खीच रहा है जिसमें छुई-मुई सदृश लक्ष्मीपुत्रों को गर्मी डस न ले।

प्रोफेसर साहब—(पसीना पोछते हुए) हमारा आज का विषय शान्ति यानी 'पीस' है। हम आज उसके वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पहलुओं को देखेंगे और हम यह भी देखेंगे कि शान्ति के

मतलब अहिंसा के होते हैं, कि अहिंसा के मतलब नैतिक शुद्धि के होते हैं, कि नैतिक शुद्धि के मतलब, मन, वचन और कर्म से सारी हिंसा, पारस्परिक द्वेष, मोह, मत्सर, अहंकार के परित्याग के होते हैं। [प्रोफेसर साहब वक्ता बड़े सफल हैं।] यह एक आध्यात्मिक तथ्य है कि जब एक इनडिविजुअल यानी व्यक्ति में से हिंसा का सर्वथा निर्वासन हो जायगा, तो उस एक व्यक्ति के साथ जिनका पारस्परिक विनिमय, यातायात, एक्सचेञ्ज, इण्टर्कोर्स होगा, कम से कम वे लोग उस एक व्यक्ति पर हिंसा का कोई अस्त्र नहीं चला पायेंगे। अस्त्र भौतिक रूप में कुण्ठित हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अस्त्र की प्रकृति संहार है, परन्तु स्वयं संहारकर्ता का मानवी पहलू उसके हाथों को बाँध लेगा।

पंखा चल रहा है लेकिन चूँकि एक आदमी अपने गर्म, महँगे खून को हवा की शकल दे रहा है, इसलिए हवा गर्म है। इस मारे प्रोफेसर साहब झुँझला झुँझला पड़ते हैं।

—यदि एक बार कोई निरंकुश, नृशंस व्यक्ति अहिंसा के पुजारी पर हिंसात्मक अस्त्रों का प्रयोग कर भी ले, तो भी वही कमजोरी, जो हिंसा का कारण, कार्य, निदान सब कुछ है, ज़ंग बनकर उसकी तलवार में लग जायगी। यों देखने में तो तलवार में हर खून के संग तेजी ही आती मालूम देती है, लेकिन यह आज़माई हुई बात है कि धार कुन्द होती हो जाती है, ज़ंग लगता ही जाता है [पंखा बिना ज़ंग लगे चल रहा है!] और, और एक वक्त आता है जब हिंसक को अपनी ज़ंग-लगी तलवार में सान देने के लिए खुद अपनी गर्दन को छोड़कर और कुछ नहीं मिलता।

प्रोफेसर साहब मिनट भर के लिए रुके और 'हियर-हियर' के नाद

से कमरा दहल उठा। इस प्रचण्ड वक्तृता के कारण प्रोफेसर साहब में गर्मी आ गयी है और इस मौसम के इस पहर में ठण्डी हवा की जरूरत चौगुनी हो पड़ी है। पंखा चल ही रहा है लेकिन उससे कोई खास राहत नहीं नसीब होती।

प्रोफेसर साहब ने बाहर थूकने जाकर, पंखा-कुली को खूब खरी-खोटी सुनायी और उपसंहार के तौर पर, गले की पूरी ताकत से डाँटकर कहा—क्यों बे! तुझे खाने को नहीं मिलता क्या? मरियल टट्टू की तरह खिुर-खिुरकर काम कर रहा है। एक रिपोर्ट में ही तुम्हारा मामला साफ हो जायगा। हाँ, नहीं तो! पैसा मिलता है, तो जरा मन लगाकर पंखा नहीं खींचते बनता?

बेचारा गरीब पखा-कुली, भूख का मारा, किस्मत का सताया, अपने वास्तव मे शक्तिहीन हाथों से पखा जरा जोर से खींचता है और हाँफने लगता है। लेकिन वह खींचता है, अपनी रोजी के लिए उसे पंखा खींचना ही पड़ेगा। हाँ, और वह अपनी बची-खुची ताकत भी ईमानदारी के साथ लगा देता है।

प्रोफेसर साहब अन्दर जाकर फिर पढ़ाना शुरू करते हैं—हाँ, तो मै क्या कह रहा था? हिसा की बुनियाद ही खुद अपने ध्वस पर कायम है। अहिसा ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए

पंखा किसी कारण से जरा रुक गया था। प्रोफेसर साहब को अपरिमित खीझ हो आयी—और क्यो न हो आये, नमकहराम पंखा कुली! और उन्होने बाहर जाकर उसे एक जबर्दस्त ठोकर मारी और उनके पद्रह रुपये जोड़ेवाले डासन के डर्बी जूते की पैनी नोक, गरीब की कमजोर पसलियों मे चुभ गयी। गरीब पखा-कुली कटे पेड़ की तरह गिर पड़ा। वह ज़मीन और आसमान को हिला देनेवाली आह

खींचता है और कराहता है। लेकिन प्रोफेसर साहब को किसी का कराहना सुनने से खास नफरत है—अपनी-अपनी तबियत होती है! प्रोफेसर साहब अन्दर आ जाते हैं। उनका मन स्वस्थ होकर अपनी पूर्व स्थिति में आ चुका था पर वह आप ही आप आहिस्ता से बुद-बुदाये—अरे, मरने भी दो कामचोर को, जरा जोर लगाकर खाँसा और अपने पुराने लहजे मे शुरू किया—

अहिंसा ही हमारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए। साथ ही यह भी बड़ी आसानी से समझ मे आ जाने की बात है, दोस्तो, कि जब विश्व-समाज वर्ल्ड-आर्डर, इसी अहिंसा की बुनियाद पर प्रतिष्ठित किया जायगा, तो कितनी शान्ति, कितना सन्तोष, कितना प्रेम जन्मेगा

मैं असत्य और हिंसा के उस वातावरण से जरा हटा और घायल पखाकुली के पास पहुँचा। थोड़ी देर बाद जब मैं चलने को हुआ, तब भी धीमी-धीमी आवाज कान में पड़ रही थी। प्रोफेसर साहब पूरी उमग के साथ पढ़ा रहे थे... .

. और ससार में इस समय जो अत्याचार, निरंकुशता फैली हुई है और जिसका विरोध हम करेगे और कर रहे हैं, उस सबका एक दम लोप हो जायगा और हमारी शान्ति की माँग पूरी हो सकेगी।

दूसरी बार 'हियर हियर' और 'वाह वाह' से कमरे की नींव हिल गयी। लड़को की यह सभा अहिंसा परिषद् के तत्त्वावधान मे हो रही थी।

■ ■ ■

ऊपर देवलोक में, प्रोफेसर साहब का आखिरी शब्द खतम होने के साथ ही, सब देवताओं के होठों में विद्रूप की हँसी आ गयी थी और उनमें आपस में झगड़ा मचा हुआ था कि आया प्रोफेसर साहब को,

उनके मरने पर, उनकी वक्तृता-शैली के लिए ग्रीस के पेरिक्लीज़, डिमोस्थेनीज़, रोम के सिसेरो, इगलिस्तान के बर्क, शेरिडन और पिट, भारत के शंकराचार्य और विश्वविजयी मण्डन के संग स्वर्गलोक मे ला बिठाया जाय, या उनकी उस छोटी सी मासूम भूल के लिए जो उन्होंने कुली को पाँच नम्बर के जूते से ठोकर मारकर की थी, नरक में ढकेल दिया जाय। इस पर विभिन्न राये थी, लेकिन जब पखा कुली की आत्मा ने आकर तड़पकर गिला किया, शिकायत की तो फिर मतभेद न रह गया।

मुंशीजी

लुटे हुए बाग़ीचे की तस्वीर यहाँ कमजोर और फीकी पडती है...

एक मुशीजी मेरे पड़ोस में रहा करते थे। उन्हें पूरे आधा दर्जन लडकियों के बाप होने का सवाब प्राप्त था। जैसा होता ही है, लडकियाँ बालिग़ (यानी ब्याहने योग्य) और नाबालिग (यानी जिन्हें ब्याहने की ख़ास तगी न हो) दोनों ही क़िस्म की थीं। लेकिन बदकिस्मती तो यह थी कि एक लडकी उम्र पाकर, वेद की ऋचाओं को सुन, न समझ, दोहरा और उन पर खीझ कर, बन्दरगाह से अपना लंगर छुड़ा भी न पाती थी कि कतार की दूसरी लड़की कैशोर्य्य की पतली देहली लाँघ कर, अपने अफसोस मे ग़र्क़ बाप पर शादी की शकल मे, सीसे का घना बोझ लाद देती थी। यही इसका दर्द भी था मज़ाक़ भी, गोकि मैं इतना ज़रूर मानता हूँ कि मज़ाक़ ज़रा बेरहम था।

ईश्वर की कृपा से, हमारे मुशीजी की लड़कियाँ काली, कुबडी नहीं थी लेकिन साथ ही वे अप्सराएँ न थीं, न हो पायी थीं, और न हो सकने की उम्मीद थी। यानी वे सांवली थीं, लेकिन कृष्णजी भी तो काले थे। यानी उनकी आँखे छोटी थी (लोगों को कागज़ी बादाम पसन्द होते हैं) लेकिन चीन जैसे बड़े देश में वह तो एक सौन्दर्य था। यानी उन्होंने काया कुछ मोटी पायी थी, लेकिन यह तो बड़ी बात है क्योंकि इससे नस्ल सुधरती है। लेकिन कहना ही पड़ता है कि इस तर्क से लोग सहमत न थे और गोकि अपनी इस तंगखयाली का बोझ उन्हें ख़ुद को उठाना चाहिए था, लेकिन पिस बेचारे मुशीजी ही रहे थे। निदान मुशीजी को हर शादी के वक्त एक मोटी रक़म, बदसूरत औलाद पैदा करने के जुर्म मे बतौर हरजाने के देनी पड़ती थी।

दो को तो मुशीजी पटील चुके थे, लेकिन अगले जेठ तक अगली लड़की तैयार हो जायगी और यही बात मुशीजी पर अपना मुर्दा वजन डालकर उनका गला घोट रही थी और अपने गोठिल दाँतो (खून खारा होता है !) से, बेरहमी के साथ उनकी खाल नोच रही थी। इस सिलसिले में दो बाते समझ लेने की हैं। पहली बात तो यह कि मुशीजी सिर्फ चालीस रुपया माहवार पाते हैं। घराना लम्बा चौड़ा है, जैसा विदित होगा, छः तो सिर्फ लड़कियाँ हैं। दूसरी बात यह कि इस लड़की मे एक ख़ास ख़राबी है, उसकी बायीं आँख मे एक कुडौल फुल्ली है—और हर शख्स, अन्धा भी यह जानता है कि फुल्ली से ज़्यादा निकम्मी चीज़ लड़की में दूसरी हो नहीं सकती। और जानकार लोग तो यह भी जानते हैं कि उसके होनेवाले दूल्हे ने जो इधर उधर सड़कों-बाज़ारों से जो थोड़ी बहुत बीमारियाँ समेटकर अपने मे बसा ली

हैं, वे भी मुशीजी की लड़की रेखा की आख की इस फुल्ली से वजन में कम ही हैं ! इसीलिए खास तौर पर कुछ ज़्यादा ख़र्चना होगा, क्योंकि इन्हीं रुपयो की मदद से लड़केवाले की आँखो मे भी तो टकहियल गुब्बारे के बराबर फुल्ली उगानी ही होगी न ? जहाँ तक इस बात का ताल्लुक़ है, मुशीजी इन सारे हथकडों से वाकिफ हैं, लेकिन इन हथकडो की खाल पीटकर चमकते रुपये और दमकती गिन्नियाँ तो नहीं पैदा की जा सकतीं, यह तो सभी जानते हैं ।

सभी अनुभवी लोग यह भी जानते हैं कि ऐसे मौक़ों पर जब रुपया उगाहना होता है, तो सहज बुद्धि को पहले दफन कर देना ज़रूरी होता है। मुमकिन है ऐसा कायदा हो। शायद है भी। मुंशीजी ने भी हर मुमकिन और नामुमकिन तरीके से रुपया उगाहा; क्योंकि रुपया उगाहना ही था। मकान, क़र्ज़ की पीली बाढ मे डगमग करने लगा। लेकिन किसी को ग़म क्यो होने लगा, नशे का पहला ख़ुमार जो ठहरा !

चारों तरफ इज्जत हुई। चारों तरफ शोर हुआ। चारो तरफ हो हल्ला हुआ, मुन्शीजी हाथों-हाथ रहे। चारों तरफ लोगों ने बातें की, हैरत की, हसद किया कि ईश्वर इसान को दिल दे तो मुंशी जी सा।

मुन्शीजी ने बेदरेग रुपया खर्च किया; इतना कि एक सच्चे कलाकार की तरह, अपना-पराया, घर-बार, अमीरी-ग़रीबी, पास-पड़ोस, सब कुछ भूल गये।

और आज दो दिन से मुन्शीजी के यहाँ फाक़े हो रहे हैं।

और तीसरी सुबह जब उनकी वफादार पत्नी, उनकी और वफा की टीस से पूछती है कि वह पहाड़-सा दिन कैसे कटेगा भूखों-प्यासों, टसकाये टसक सकेगा भी या नहीं, और यह कि उनकी उस फाक़ेमस्ती का मतलब बेचारी कमज़ोर, कमउम्र, नादान लड़कियो के लिए क्या है ?

तो.........

हमारे मुन्शीजी सिर्फ एक पल को आँख ऊपर उठाकर जवाब देते हैं: तुम भूल गयीं, अभी उसी दिन तो, याद है न! मैंने अठ-पहल चवन्नियाँ लुटायी थीं। हमारी कितनी बड़ी जीत का नज़्ज़ारा था वह, आह! मुफलिसों ने मुराद पायी, भुखमरों ने आँखे ठडी कीं। और आज अभी तुम आयी हो यह असगुन सन्देश लेकर, क्यो? अभी तो शायद हम कुछ दिन बिना कुछ खाये, उन ग़रीबो की बेशुमार असीस और अपने कमाये हुए बड़प्पन की लोथ चबाकर ही ज़िन्दा रह सकते हैं! अभी खाने की ज़रूरत ही क्या? आख़िर खाना मिलने पर भी तो आदमी रोता ही है, बच्चे बिलबिलाते ही हैं, अनुदार समाज आँखें तरेरता ही है.....शिः!

और जब उनकी पत्नी चाह रही थी कि सवाल पर और पहलुओं से भी ग़ौर किया जाय, तब तक मुशीजी, सब कुछ अपने पास से जैसे सरकाकर, हिन्दुस्तान का इंडस्ट्रियल नक़्शा सामने छितराये उन व्यापारिक केन्द्रों पर आँख गड़ाने मे संलग्न हो चुके थे जहाँ कि मालिक की एजेन्सियाँ खुल सकती हों। और वे कुछ बुदबुदा रहे थे, जो उनकी पीड़ित पत्नी समझ न सकी।

मज़हब का गेट-अप

मेरे चित्त में शंकाएँ उठा करती हैं और उनको मनबुझाव करना या एकदम से दबा देना ज़रूरी हो पड़ता है।...

आज सातवाँ दिन मैं भूखा गया। खाने-पीने को कहीं कुछ न था, इसलिए भूखा ही अपने जानलेवा काम पर जाना पड़ा। पर फिर भी मैं हिन्दू हूँ यानी मेरा भी एक मज़हब है...

किन्तु आज मैं भूखा हूँ, इसलिए मेरा मन डावाँडोल है। मुझे लगता है कि ससार मे बनायी भाव-दरे बूढ़ी पुरानी हो गयी हैं और उनकी जड़ खोखली है, उनकी भीत कमज़ोर और एक धागे की है। अब उनकी जगह नयी भाव-दरो को देनी होगी।

इस वक्त शाम के साढ़े सात बजे हैं। चार बजे शाम तक मुझे सपने मे भी गुमान न था कि मैं, जो अपनी नगी और डरावनी ग़रीबी मे भी हिन्दू धर्म का इतना कट्टर उपासक हूँ, उसे छोड़कर और उसके

भाई-बन्द सारे धर्मों से नाता तोड़कर एक नास्तिक का जीवन बसर करने जा रहा हूँ।

गोकि यह बात भूलने की नहीं है कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है।

मै अनुभूतियाँ बयान करना नहीं चाहता, क्योंकि उसका बयान उसका एहसास करने से ही हो सकता है। इसलिए मैं सिर्फ कह दूँ और आप सुन लें कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है।

मैने अभी कहा था कि आज चार बजे तक मैं हिन्दू था, जिसके मानी हैं कि मैं किसी ईश्वर को अपना खून देकर पालता था, क्योंकि हर ईश्वर की ज़िन्दगी उसके अनुयायियों के ताजे खून से पलती है—हमारी दी हुई ग़िज़ा वह खाता है, हमारा दिया हुआ वह पहनता है और हमसे से हटकर उसके अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं होता, नहीं हो सकता। लेकिन इस वक्त चूँकि मेरे बदन का खून रत्ती-रत्ती, माशा-माशा करके सूख चला है, सोचने की बात है, मै एक बाहरी को ख़ून देने के लिए कहाँ से लाऊँ ? बात साफ है। मेज़बान जब खुद ही दरिद्र हो गया, तो मेहमान की तीमारदारियों और लिहाज़ों का क़िस्सा कहाँ ?

और इसलिए मैं नास्तिक हो गया। क्योंकि निस्बतन मुझे पहले मैं प्यारा हूँ, उसके बाद कुछ और। मुमकिन है मैं गलती पर हूँ।

लेकिन इस सब बीच यह बात हरगिज़ भूलने की नहीं है कि मेरी भूख का आज सातवाँ दिन है। और भूख को चाहे खुशहाल मोटे दिनों के दार्शनिक कितनी ही छोटी चीज़ क्यों न समझे, लेकिन वह इतनी छोटी चीज़ किसी तरह भी नहीं है कि सिर्फ मुँह बिचकाकर और कन्धे हिलाकर ही उसका सम्मान किया जा सके।

■ ■ ■

सवेरे दस बजे का वक्त था। एक ब्राह्मण पुरोहित आया। उसके माथे पर तिलक त्रिपुण्ड था और हाथ में माला थी। वह गेरुआ वस्त्र पहने था और नगे पैर था।

उसने अपना आसन जमाया और कहना शुरू किया—भगवान् ने कहा है कि वह युग युग मे पाप का नाश और सत्पुरुषो का उद्धार करने के लिए जन्म लेते हैं। भगवान् अवतार लेते हैं। विष्णु, राम, कृष्ण सब एक ही भगवान् के नाम हैं। आत्मा परमात्मा का खण्ड है, ज्योतिर्मय अश है, उसी प्रकार जैसे सूर्य की असख्य किरणो का उद्गम सूर्य मे है। स्वभावतः परमात्मा से जीव या आत्मा एक हो जाना चाहता है, पर उसे ऐसा करने से रोकनेवाली शक्ति का नाम माया है। माया मनुष्य को ग़लत रास्ते पर ले जाती है। वह महाठगिनी है। इसे दर्शन मे शकर का मायावाद कहते हैं। अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा या परमात्मा एक है। इस अद्वैतवाद के भी कई विभाग हैं। क्या तुम सुनोगे ?

मैं चुप रहा।

'क्या तुमने वल्लभ, रामानुज, मध्व के नाम सुने हैं ? क्या तुम गौराग महाप्रभु, कबीर, निम्बार्क से परिचित हो ?'

मैं अब तक तो कान में उँगली डाले बैठा था, क्योंकि मुझे बेहद भूख सता रही थी और मुझे इस सब थोथे उपदेश से लग रहा था कि झूठा मजहब अपने जायज़ मकान को छोड़कर जीवन में नाहक एक बेहूदा दूरी तक घुस आया है और हमारी बनी बची मेंड़ों को उखाड़ने की नीयत रखता है।

अब जब उस पुरोहित ने मुझसे यो सवाल पूछने शुरू कर दिये तो मुझे ग़ुस्सा आ गया। और मैंने उसे डाँट दिया।

वह तिलक और त्रिपुण्डधारी ब्राह्मण पुरोहित रोता-गाता बिगड़ता-कोसता चला गया। वह शायद सोच रहा था कि मेरा गन्दा दिमाग़ परमात्मा को समझे तो क्या समझे। और इधर मै सोच रहा था :

'तुम धर्म-ध्वजियों ने भगवान् के हिम-सदृश शुभ्र नाम को कलंकित किया है। तुमने उसे भुलावा दिया है। भरमा दिया है। तुमने उसे मजबूर किया है कि वह अपने ग़रीब और बेचारे बच्चों को अपनी गोद से ठेल दे। तुमने उस पिता को ससार की समृद्धि का बिल्कुल ग़लत अन्दाज़ दिया है। और जब तक तुम्हारे इस नक्कार-ख़ाने में हम ग़रीबो की पतली तूती की आवाज भगवान् के कानों तक न पहुँच जाय और वह फिर हमे अपना लेने को आतुर न हो पड़े, हम उसकी गोद में जाकर ढकेले जाना नहीं पसन्द करते। तुमने उसे अपने लिए सुरक्षित कर लिया है। तुमने उसे भरे पेट की चीज़ बना दिया है। जब तक वह एक बार फिर हमारी भूख और हमारे दुर्भिक्ष को समझने और दो आँसू गिराने मे समर्थ न हो जाय, हमारा उसके पास जाना व्यर्थ है।'

इसके बाद एक बुद्ध भिक्खु आया और उसने

बुद्धं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि

कहा ; पर मुझे लगा कि जब तक मेरा उचित इन्तज़ाम न हो जाय, मैं कहीं गच्छामि नहीं हो सकता।

उसने और भी कहा—सत्य बोलो। अहिंसा परमोधर्मः। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर षट्रिपु हैं। इनसे बचो। शरीर को यातना मत दो। वह भगवान् की काया है।...और निर्वाण को प्राप्त हो जाओ।

मैंने साँस खींचते हुए कहा—सुन्दर उपदेश हैं! तुम जो भी कहते हो, सोना है, हीरा है, पन्ना है। इसमें मैं शक का थेगड़ा नहीं लगाता। लेकिन जिसकी आत्मा नगी, भूखी और बीमार है—हाँ, शरीर की कौन कहे, आत्मा भी नंगी भूखी और बीमार होती है और कलपती है—उसके पास अपना उपदेश लेकर मत जाओ। तुम्हारे उपदेशों का ठोसपन ही उस बेचारे के कान में सीसा पिलाने के बराबर होगा। इसलिए नहीं कि बुनियादी तौर पर उसमे कोई खामी है बल्कि इसलिए कि बात मौज़ूँ या मुनासिब नहीं बैठती इसलिए तुम भी अपने त्रिपिटक लेकर जा सकते हो।

वह बुद्ध भिक्खु भी चला गया।

इसके बाद मुसलमान मौलवी आया। उसने भी कहना शुरू किया—हमारे नबी मुहम्मद साहब ज़मीन पर तफरक़े को मिटाने और एक खुदा की तालीम देने आये थे। ख़ुदाबन्ताला करीम से रूह कैसे एक हो सकती है, यह गुनहगार दुनिया पर ज़ाहिर करने वे आये थे। शैतान ख़ुदा से मिलने मे रोड़ा अटकाता है, इसलिए उस पर फतह हासिल करना ज़रूरी है।

उस मुल्ला ने देखा कि मैं ऊबकर ऊँघ रहा हूँ। उसने पूछा—क्या तुम मुझे ग़ौर से नहीं सुन रहे हो!

मैं चुप रहा।

'नबी के बाद हजरत अली, हज़रत उमर, हज़रत फ़ारूक़ वग़ैरह आये। और इसी वक्त इन लोगों में निफाक़ पैदा हुआ जो कि कर्बला के मैदान पर शाया हुआ और जिसने इसलाम के सैकड़ो जाबाज़ दोस्त खा लिये......

'क्या तुम ऐसे इसलाम पर ईमान लाना नहीं चाहते जिसने हज़रत इमाम हुसैन जैसे बहादुर पैदा किये ?'

मैंने बड़े अदब से जवाब दिया—मैं दिल से हज़रत इमाम हुसैन,—खुदा उनकी रूह को नजात दे,—की पाकीज़गी, उनकी बेलौस बहादुरी, दरियादिली की तारीफ करता हूँ। खुदा जानता है मैंने कितनी बार मीर अनीस के मरसिये अपने तईं दुहराये हैं और आँखों में ईमानदार आँसू भर लाया हूँ कि उनका-सा जवाहर दुनिया ने अपनी तंगदिली में खो दिया और जिसका ख़मियाज़ा न सिर्फ़ उस वक्त के मर्जाद और ज़ियाद को ही उठाना पड़ा, बल्कि आज भी जिसके शोले आये दिन भद्दे झगड़ों मे भड़कते रहते हैं। मैं इस सब पर ज़ार-ज़ार रोता हूँ। लेकिन भाई, माफ करना, तुम मेरे यहाँ से जा सकते हो क्योंकि तुम्हारे मज़हब की मौजूदा शकल भी उतनी ही भद्दी और नदामत से चूर कर देनेवाली है जितनी कि तुमसे पहले आये हुए, हिन्दू मज़हब के ठीकेदार के धर्म की थी...।

इसी तरह एक क्रिस्तान पादरी आया। उसके सर पर तिनकों का टोप था। और जिस्म पर खाकी पतलून।

उसने कहना शुरू किया—खुदा के बेटे का नाम ईसूमसीह है। वह ग़रीबों का पालनेवाला और उनकी भलाई चाहनेवाला है। वह नाज़रथ में पैदा हुआ और मशरिक़ के सात संतों ने जाकर उसे दुआ दी। शुमाल से एक सितारा चला और एक नाँद पर जाकर रुक गया। मशरिक़ के उन सात अक्लमदों ने देखा कि उस नाँद में खुदा का बेटा ईसूमसीह है। और उसे उन्होंने अपनी आँखों से देखा और फौरन पहचान लिया।

यहूदी आगे चलकर बिगड़ गये और उन्होंने नादानी में कहा

कि हम इसे सूली पर चढ़ायेंगे क्योंकि यह मागदलीन जैसी फ़ाहिशा के यहाँ खाना खाता है और अंधे कोढ़ियों को खुदा की इजाज़त के खिलाफ अपने जादू-टोने से ठीक कर देता है।

'उनकी इस ग़लती पर रहम के समुंदर ईसूमसीह को तरस आया आया और उसने खुदा से दुआ माँगी और कहा—ऐ खुदा, अगर तू सचमुच मेरे कारनामों और मेरे चाल चलन से खुश है और मैं तेरे भेजे पैग़ाम को दुनिया में नक़्श-ब-नक़्श पहुँचा रहा हूँ, तो तू इन नादान बच्चों को, जो मुझे सूली पर चढ़ाना चाहते हैं, मुआफी बख्श, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं?'

मैंने अपने ग़रीबपरवर भाई से कहा कि वह अपनी स्पीच थोड़े शब्दों में ख़त्म करके मुझे मशकूर करें। तो उसने अपने सारे क़िस्से को निम्नलिखित शब्दों से ख़त्म किया—क्या तुम ऐसे ईसाई मज़हब के हामी हो सकते हो, जिसने ग़रीबों को तरजीह दी? लेकिन मैंने महसूस किया कि उसे भी वही जवाब दिया जा सकता है जो उसके क़ब्ल आनेवाले तीन आदमियों को मिल चुका था।

क्रिस्तान पादरी भी चला गया।

× × × × ×

मेरे चित्त में शंकाएँ उठा करती हैं, और उनका समाधान आवश्यक हो जाता है। पर इन शंकाओं के बीच क्षोभ की एक रेख भी नहीं है क्योंकि मैं इस सत्य को भली तरह जानता हूँ कि यद्यपि वास्तविक सत्य-धर्म सनातन, चिरन्तन और दिग्दिगन्तव्यापी होता है, उसके ऊपरी रंग-रूप, सजधज, गेट-अप का अपना एक मकान होता है और उसे अपनी जायज़ जगह में आकर जिन्दगी को फिजूल ही ज्यादा घेर लेने देना ग़लती है। और इस बात को भी मैं ठीक तरह

से जानता हूँ कि इस गेट-अप और सजधज का इन्तज़ाम बग़ैर ज़रूरतो को पूरा किये नहीं हो सकता, क्योंकि आज मेरी भूख का सातवाँ दिन है।

कुछ दिन बाद जब नंगी भूख को कुछ पहनने के लिए हो गया, तो एक रात मैं अपने कमरे के रहस्यमय अन्धेरे मे थोड़ा स्वाध्याय कर रहा था।

मैं कुछ अस्त-व्यस्त था और थाह लेना चाहता था कि रोटी यानी ज़रूरतों की सतह कहाँ पर है!

मुझे लगा कि मोमबत्ती एक बार कुछ धीमी पड़ी और फिर दूनी दमक के साथ बल उठी।

मोमबत्ती ने कहना शुरू किया—मुझे देखते हो?...मुझे देखते हो?...तुम जानते हो, मैं कौन हूँ? मेरा नाम मोमबत्ती है। ज्यों मैं तिल-तिलकर जलती हूँ तुम ज्योति पाते हो। है न? मैं न रहूँ तो जानते हो कैसा लगे? निपट अँधेरे में झाईं लगे, भूत लहरे। जो फटी पोथी तुम खोलकर बैठे हों, और जिस समुन्दर मे पैठकर तुम मोतियो की राशि पा लेना चाहते हो, वह मेरी रोशनी के बिना काला अँधियारा हो जाय और मोतियों का पाना एक जड़ सपना। समझे? तो कुछ तुम आँख गड़ाकर देख रहे हो, वह हीरा है, मोती है, पन्ना है। लेकिन इन अमूल्य पत्थरो के भी पहले जिस चीज़ को पहले-सा बिठालना पड़ता है, वह है ज्योति। उनका मूल्य आँकने के लिए भी तो पहले ज्योति की ज़रूरत पड़ती है? तुम देख रहे हो, कैसे मेरी एक बलती लौ, एक शिखा घूँघरवारी होकर निकलती है और फैल-फैल तुम्हें मदद पहुँचाती है कि तुम अपने मोती पा सको। एक बार इस ज्योति की शिखा को 'फू' करके बुझा दो और फिर, शर्त के साथ, सीप भी हाथ न आये।

'जीवन मे इसी एक ज्योति-शिखा की ज़रूरत होती है। हमको। तुमको। रास्ते के आदमी को। सब को। पहले यह ज्योति चाहिये, मोती तो बाद को भी ढूँढ़े जा सकते हैं। पर लोग भी कैसे मूर्ख हैं, पहले ज्योति की पिटारी लेकर चलते हैं, पर रोशनी का इतज़ाम नहीं, ज्योति की यह पतली शिखा नही, अनाड़ी पारखी उन मोतियों को आँके, तो कैसे! मैं कब कहती हूँ, मोतियों की पिटारी सच्ची नहीं, दग़ा और धोखा है! पर उस सचाई को जानने के लिए भी तो प्रकाश चाहिये? प्रखर प्रकाश न हो, तो झलमला ही सही, बुतता-जलता, कुछ-न-कुछ टूटे-फूटे खडहर—जैसे कोनों में मुर्दा मुसकान तो ला देगा?

'पर क्या तुम्हारे कण्ठ में इतनी ताक़त है कि तुम बतला सको कि कितने घरों में सदियों का अन्धेरा है, और कोई एक झलमला रखने भी न गया? वह तुम्हारी मोतियों की पिटारी को घास-फूस मान ठुकरा देंगे क्योंकि यों भी उनके नेत्र की जोत धुँधली और अशतः पथरा गई, उस पर से रहनुमाई के लिए एक दीया भी नहीं?

'जब तक जीवन में यह प्रकाश न हो, कुछ नहीं हो सकता। सीधी बात है। मुझे एक बार बुलाकर देखो, जवाब मिल जायगा।'

उसने एक बार धीमी पड़कर, फिर एकदम से उफनकर कहा—
मैं न रहूँ, कैसा लगे, समझते हो! निपट अँधेरे में झाईं लगे, भूत लहरे।

मुझे सारी बात याद आ गई, जब मेरी भूख का सातवाँ दिन था। अस्तित्व की नींव हिलती रहे, भूडोल लूट लेने को कहे, उस वक्त तुम अपनी मोतियों की पिटारी को ख़न्दक़ में फेक दो, क्योंकि जरूरत का यही तक़ाज़ा है। तुम शर्म से अपना मुँह छुपा लो। एक नंगा वीभत्स हड़कम्प हँसकर टाल देने की चीज़ नहीं होता। हमारे

जीवन के अँधियारे से अँधियारे कोने के लिए यहाँ एक दुर्बल टिमटिम प्रकाश का दीया लेकर तो तुम आते नहीं, आते हो लेकर मोतियो का बक्स—ज़बर्दस्त, रूप की खान, बेशक़ीमत, लेकिन बेकार और नामुनासिब। गुदड़ी के बिना जिसे सर्दी के हज़ार दाँतवाले आरे चीर-चीर रहे हों, जिसे ठिठुरन पलों मे काठ बना देगी, वह तुम्हरा बेश-क़ीमत लाल लेकर क्या करे?...

चार बटन

नीलाभ को नींद नहीं आ पाई। बिस्तर पर पड़ा पडा छत की कड़ियाँ गिनता रहा और रहा विचार करता अनेको भाव-धाराओं पर; मानव मे मानव के अविश्वास के औचित्य अनौचित्य पर, इस पर, उस पर, सब पर! दर्शन-शास्त्र के सारे फैलाव को उसने बुहार डाला और अन्त में अंग्रेजी कविता, जिसका वह अध्यापक है, पर पहुँचते-पहुँचते—शेक्सपियर ने ठीक ही कहा है—'ट्रेचरी, दाइ नेम इज़ वूमन।' उसने आह की। सचमुच ही नीलाभ का व्यक्तित्व बेहद भोला है।

और आज ही शाम को उर्वशी ने उसे तलाक देकर अदालत में जलील किया है।

जब नींद नीलाभ की तनी हुई आँखों, झुर्रीदार माथे और थके मन को ज्यो का त्यो छोड़, पास नहीं फटकी तो वह आ खड़ा हुआ उस कमरे मे, उस ड्रेसिंग टेबिल के सामने जो कल तक उर्वशी के जिस्म को अनोखी-अनोखी सुगन्धियों से लदे रहते थे।

उसने अपना बेहद उतरा और छः ही घण्टों मे ढल गया हुआ उदास चेहरा उस बड़े आईने में देखा, जिसमें कल तक उर्वशी की नागिन-सी अलकें लहर खाती थीं, जिसमें उर्वशी की पतली कमर से लगे हुए उसके अच्छे गोल तराशे हुए नितम्ब लचक जाते थे, जिसमें उर्वशी की सँवारी हुई भौंहे बिछ जाती थीं, और जिसमे उर्वशी की नीली आँखे बाज़ की तेज़ी से साड़ी के इस पल्ले से ब्लाउज़ की उस नगी, गोरी बाँह तक दौड़ जाती थीं।

नीलाभ नीली आँखों पर ठिठका, बुदबुदाया—लोग ठीक ही कहते हैं कि नीली आँखों का भरोसा कच्ची दीवार से भी कच्चा होता है। आह, यह आईना!

नीलाभ एक छोटे कॉलेज मे अध्यापक है; लेकिन कम उम्र ही है और बहुत भोला है। वह समझता है कि आँखो का रग सचमुच ही तलाक़ की दलील है।

इस वक्त जब वह उस आईने के सामने खड़ा है, एकदम अकेला, घनी रात के दूसरे-तीसरे पहर मे, उसे उस आईने मे उर्वशी भी बहुत बार की तरह खड़ी हुई नजर आती है। नीलाभ का दिमाग़ और मन असलियत मे बहुत थका हुआ है। फिर भी वह वहाँ पर खड़ा होकर गोया आईने के पीछे से—अपने विवाह के सात महीने पीछे से आज शाम तलाक़ तक सफर कर आने को कह रहा है।

उर्वशी थी उससे कॉलेज में तीन साल जूनियर। उसे शौक़ीन लड़कियों से हमेशा हौलदिल पैदा होता रहा है; पर सिनेमा मे उससे एक बार अचानक की मुलाक़ात हुई, फिर स्नेह-रग मे थोडी और गहराई हुई। कुछ महीने गुज़र जाते हैं और नीलाभ उर्वशी से पर्याप्त लुब्ध जान पडता है। फिर परीक्षा के दिन। उर्वशी उससे मदद लेने

उसके घर अक्सर आने लगी है। रात बिरात का भी उसे ग़म नहीं है, फारवर्ड लडकी, ऊपर से बी० ए० की विद्यार्थिनी ! फिर यों ही. यों ही दोनों का पास आना और फिर एक दिन सात माह पहले उर्वशी और नीलाभ का रजिस्टरी से अदालत में विवाह !

उसके पिताजी इस नई पद्धति के ख़िलाफ हैं और नीलाभ अब घर से अलग हो गया है। नीलाभोर्वशी ने अपनी गृहस्थी बनाई। ज्यों-त्यों बनकर खड़ी हो गई; लेकिन चले कैसे ! नीलाभ के पास पैसे नहीं हैं, कारण वह सिर्फ अस्सी रुपये का मुस्तहक है। और उर्वशो अपने वक्त में विश्वविद्यालय भर में सबसे अधिक शौक़ीन और सुसज्जित लडकी रह चुकी है। यह कोई साधारण गौरव नहीं है। ··और उर्वशी की तन्दुरुस्ती अलग आजकल एकदम टूटी हुई है, वरना वही नौकरी करती।

नीलाभ वहाँ उसी तरह खडा हुआ थके दिमाग़ से इन सबको सोच रहा है। उर्वशी और इस ड्रेसिङ्ग टेबल के बीच वह दो शक्लें और देख रहा है। एक तो बहिन लीलू की और एक अपने चार उभारदार चमकीले, नक्क़ाशीदार दबीज सोने के बटनों की। हाँ, इन बेचारे बटनों का भी अजीब हस्र हुआ कहलाया। नीलाभ और उर्वशी की गृहस्थी में अनेकों जन्जाल की तारीखें आती हैं, लेकिन नवदम्पति तो इनको सेमर के फूल की तरह उडा देते हैं। आखिरकार, हाँ, कोई दो महीने पहले आई एक परेशानी, जो शीशे की तरह भारी और हिमालय पहाड की तरह लम्बी-चौडी थी। लगा; उसके वजन के नीचे सब कुछ टूट ही जायगा, पर उर्वशी ने कहीं देख लिये थे नीलाभ के वे अनमोल बटन। हुई जिज्ञासा कि क्या उन बटनों की भस्म बनाओगे, काफी दक़ियानूस हो ! नीलाभ क्या करे ? कम्ज़ोर आदमी, लीलू बहिन

काफी दक़ियानूस हो ! नीलाभ क्या करे ? कमज़ोर आदमी, लीलू बहन की प्रतारणा—जिसकी उसने कल्पना की—के बावजूद उसने निकाला एक बटन और चला बाजार । गया और ले आया घण्टे भर में एक कीमती सस्ती जार्जेट की साड़ी, ब्लाउज़, पैर के लिए बड़े कोमल, फूल की तरह तराशे हुए बन्ददार सफेद सैण्डल और कान के लिए इमिटेशन बुन्दे ! कल उर्वशी कॉन्वोकेशन मे डिग्री लेने जायगी न !

पर चोट लगी नीलाभ को बहुत । कितने प्यार से लीलू ने उसे वह उपहार दिया ! और लीलू को ही वह सब से ज्यादा चाहता है । उसने तय किया था कि किसी सूरत मे उन्हे वह अलग न करेगा, छोटी-मोटी दिक्कतो के बीच भी वह इन छः बरसों मे गुज़रा है, लेकिन उसने उन बटनो को अपने से लगाये रक्खा है । यों नीलाभ काफी—ज़रूरत से काफी—भावुक है, और यह नारी उसे वहा ले चली है; अपने ही उन्माद की भँवर मे । उसे दर्द होता है कि वह निकम्मा है । एकदम निकम्मा ! एकदम !!

बिल्ली ने देखा छीछ्डो का दरबा ! उर्वशी ने बटन !

बस क्या कहना, क़िसमत फूट गई । आये दिन इन दो महीनों मे परेशानियाँ ज़्यादा ढहने लगीं; एक, दो, तीन, चार, गोलाबारी ही शुरू हो गई । 'अरे, परेशानी का ताल्लुक खाने से थोड़े ही है, जिसने मुँह दिया है, खाना देगा ही । परेशानियाँ तो दीगर चीज़ों की होती हैं ।'—उर्वशी कहती है । उनकी प्रकृति ही ऐसी है ।

गोया अब तक वह सपने के बीच से गुज़र रहा हो । एक दिन नीलाभ ने होश सँभाल कर देखा कि बाक़ी तीन बटन भी सिधार गये हैं और उनकी जगह ज़्यादा वर्गफुट स्थान लेनेवाली चीज़ों ने ले ली है । मसलन् वह ड्रेसिङ्ग टेबिल, जिसमे वह अपनी मौसम की पिटी हुई शक्ल देख रहा है और जिसमें इस वक्त भी उर्वशी खड़ी, अपनी नीली

आँखे नचा रही है; मसलन, सजावट की हजारों छोटी-बडी चीजे जिन्होने ग़रीब नीलाभ को तबाह कर दिया। मसलन्, और भी बहुत-सी चीज़े, सौन्दर्य के प्रसाधन, कोटी, डैगेट ऐंड रैम्जडेल, यार्डले, इरैसमिक की बनाई हवा से बुनी हुई चाजे, टैञ्जी ओठ रगने के लिए क्यूटेक्स और न्यूटेक्स (सौतेली बहिने) नाख़ून लाल करने के लिए।

इन सब के अलावा आई, एक हल्के हरे नगीने की एक पतली, लेकिन वेहद लुभावनी और सुकुमार अँगूठी, जो नीलाभ ने उर्वशी को उसके जन्म-दिन पर दी। और फिर यह तलाक़! वेचारे नीलाभ को अपने निकम्मेपन पर रोना आ गया। ज्यो-त्यो सूजी आँख लिये हुए सुबह हुई, रोते गाते। नीलाभ ने एक निहायत विस्तृत ख़त लीलू बहिन को लिखा, जिसमें तरह तरह से, ऊँचे से नीचे से, आगे, पीछे से, दाये से बायें से, अन्दर से बाहर से, नई-नई साहित्यिक उपमा उत्प्रेक्षा से माफी माँगी गई थी, और उसमे अपने निकम्मेपन पर ऐसा सिर धुना गया था कि कौन कहे, पढकर रोना आता था। वेचारा नीलाभ!

पर थी लीलू बहिन समझदार, उसने लिख दिया कि ऐसी ही जरूरतों के लिए ये चीजे हुआ करती हैं, इसमें घबरान की कौन-सी बात है। और भी इसी धुन की थोडी-सी बाते। लेकिन नीलाभ को यही हसरत रह गई कि उसने उन चीज़ों की फेहरिस्त भी जिन पर वे बटन शहीद हुए, अपने उस सविस्तर ख़त मे क्यो न जोड़ दी। तब उनको—लीलू बहिन को पता लगता कि सोने के नक़्क़ाशीदार बदन, बन्ददार सैण्डल और रेशमी झकझक पर्दे ख़रीदने के लिए नहीं होते। हाँ, नहीं तो!

और नीलाभ हमेशा यह महसूस करता रहा कि बटन से ली गई उन चीज़ों ने लोहे के हीलदार जूते पहन लिये हैं और उसके सर की छत पर परेड कर रही हैं! वेरहम!

एक गिलहरी

"कुछ सुस्ती और कुछ अनमनापन, मैं बाहर घूमने के लिए निकल आया। बगीचे में आया, सोचा जरा दिलबहलाव हो जायगा। और तो कुछ नहीं, सबो ने लम्बी-चौड़ी जमीन अलबत्ता घेर रखी थी। सब कुछ वीरान था, उजाड, मानो अभी-अभी सब पर एक, जहर में तपी हुई, झुलसानेवाली हवा डोल गयी हो। बगीचे में उदासी-ही-उदासी दीख रही है। बागीचे—इसी नाम से उसे पुकारा जाता है—का रकबा बहुत था। इसी लिए जहा एक कोने में कुछ लड़के आँख-मिचौनी खेल रहे थे, वहा दूसरी तरफ गोलीका खेल जमा हुआ था। मुझे न मालूम क्यो महसूस हुआ कि ये खेल यहाँ पर न खेले जाने चाहिए थे—इनके लिए तो दूसरी ही हज़ार दिलकश, दिलफरेब जगहें निकल आ सकती हैं। इस बाग के लिए तो मुझ-जैसे बदनसीब, मायूस लोग ही ठीक हैं—जिन्हें न आज की जिन्दगी मे कोई भेद रह गया है और न आने-

वाली के लिए धीरज और इतमीनान। सब ओर से ठोकरें खाकर यहाँ आना चाहिए...इस उदासी के आलम में ! चलो इस बियाबाँ में भी इतनी जगह तो है ही कि जरा घूम सकूँ। शायद तबीयत ताजा हो जाय।"

यह एक अधेड़ आदमी है—उम्र यही कोई चालीस साल। चेहरे-पर निराशा के बादल उमड़-घुमड़कर छाये हैं। माथे पर बेशुमार शिकनें पड़ चुकी हैं, मानो वे उन सारी परीशानियों और तकलीफों की दाद देती हैं, जो उस बेचारे ने झेली हैं। चेहरे पर एक उदासी निरन्तर बनी रहती है। बाल उसके बड़े कहे जा सकते हैं और लापरवाही से मोड़ लिये जान पड़ते हैं। कपड़े उसके जिस्म पर चुस्त नहीं बैठते दीख पड़ते। मालूम नहीं, किस एक धक्के से वह और भी धँसता जा रहा है। उसका एक विलक्षण व्यक्तित्व है। जब वह हँसता है, उसके गाल में गढ़े पड़ जाते हैं, जिनसे उसका आकर्षण तो बढ़ जाता है, पर साथ ही उसकी आँखें ऐसी कुछ स्थिर होकर रह जाती हैं कि देखने-वालेको लगता है, उन आँखों में बस अब आँसू आ जानेकी कमी है। वह खुश रहने की कोशिश करता है, फिर भी उससे मिलकर वापस लौटनेवाले एक अफसोस लेकर लौटते हैं। उसका नाम जानने की कोई जरूरत नहीं।

लेकिन नहीं, आज जो उसकी शकल पर एक उलझन है, एक उजड़ापन है, उसके पीछे भी एक कहानी है. ...। लेकिन खैर, उस कहानी से हमको, आपको क्या ! यहाँ पर तो कुछ दूसरी ही बात कहनी है। अस्तु, इस बात को यहीं छोड़कर हम देखें, वह अपना अपनापन लिए हुए लम्बे-धीमे डग रखता हुआ घूम रहा है। आखिर कार वह कुछ थककर पास की एक टूटी लोहे की बेंच पर बैठ गया।

बेञ्च एक बरगद के पेड के नीचे रखी हुई है। वह आदमी वहीं पर बैठा हुआ अपने विचारो में मग्न है। रह-रहकर आँखे सिकोड़ता है, बालों मे हाथ फेरता है; लेकिन जिस एक मुद्रा में वह आकर बैठा था, ठीक उसी मुद्रा मे वह पन्द्रह मिनट बाद भी बैठा हुआ है।

उस बेञ्च से हटकर एक सोलह बरस का लावारिस सा चचल शोख लडका नंगे पैर, फटे-से कपड़े पहने, एक हाथ में एक छोटी-सी गुलेल और दूसरे में कुछ गोल गोल ऍकडियाँ—जिन्हें गुलेल पर चढ़ाकर वह छोटे-छोटे जीवो पर निशाना साधता है—लिये टहल रहा है। यह आदमी अपने ध्यान में मग्न है और वह लड़का यह देख रहा है कि एक गिलहरी अभी दिखी थी और नीचे उतरने के लिए अभी बढी थी, फिर कहाँ रास्ते में रह गयी! एकाएक एक नन्हीं-सी नादान गिलहरी किसी चीज की खोज में पेड़ के तने तक आकर रुक गई। उस आदमी की नजर भी न मालूम किस कारण से उस गिलहरी पर जम गई और वह आँखो-आँखो मे ही उसका पीछा करने लगा। उसने देखा, वह गिलहरी तने से फुदकती हुई उतरी। उछलती हुई वह तीन हाथ आगे बढी, फिर अपनी दुम पर खड़ी होकर उसने इधर-उधर चौकन्नी दृष्टियाँ फेंकी, फिर डरते-डरते पगों से और दुम लहराती हुई आगे बढ़ी। उसके पास ही पड़ा एक छोटा-सा तिनका मुँह मे कुत् से दबाया और आँखों मे कुछ शका, भीति, और नादानी और पैरो मे सफलता का भार लिए तने की ओर जल्दी, पर रुकते-रुकते बढी। बेंच पर बैठा हुआ यह आदमी इस समय कुछ देर को अपने दुःख-सन्ताप भूलकर उस गिलहरी को बड़ी रुचि-पूर्वक देखता रहा था और सोचने लगा था—'कितनी नादान चीज़ है! छोटी सी नाखूनी आँखों में कितनी चमक है!...... मन्द भी, तेज़ भी, मानों

मौत भी हो, जिन्दगी भी। दुम ऐसे हिलाती है, मानों उसके छोटे-से जीवन में बाढ आ गयी हो।' और इस आदमी को ऐसा लगा कि वह गिलहरी अपनी अद्‌भुत चमक के साथ उसकी आँखों मे देख रही हो और कुछ याचना कर रही हो, कुछ माँग पेश कर रही हो। और उसके नरम जिस्म की उन उभरी हुई काली-काली धारियों को देखकर उसे अनेक बाते याद हो आई और उसने अपने चिन्तन को इन शब्दों मे समाप्त किया—'ऐसी ही कोई भोली-सी नन्हीं गिलहरी त्रेता-युग मे राम के सेतु में सहायता पहुँचाने के लिए, मुँह में एक छोटा-सा तिनका दबाकर राम के पास पहुँची होगी और राम ने मुग्ध होकर उसकी पीठ पर हाथ रख दिया होगा और तब से ये रेखाएँ गिलहरी पर राम की कृपा का प्रतीक बनकर चली आती हैं। राम ने गिलहरी को सबको दिखाकर कहा होगा—मेरी सच्ची भक्त यह है। इसमें सेवा करने की आकाङ्क्षा प्रबल है, किन्तु शक्ति क्षीण है, फिर भी कार्य में कार्य की आत्मा देखनी चाहिए। इस गिलहरी का लाया हुआ यह तिनका मेरे सेतु को बाँधने में हनूमान और दूसरे योद्धाओं द्वारा उठा कर लाये हुए जंगल और पहाड़ से ज्यादा सहायता करेगा।' और राम ने गिलहरी को चूम लिया होगा। सच है, यह गिलहरी है भी इसी योग्य।'

लेकिन उस गिलहरी को देखकर एक तरफ जहाँ उसने ये सब बातें सोची, दूसरी तरफ कुछ और भी सोचा, लेकिन...उसे वह दूसरी बात अस्पष्ट रूप मे ही हृदय मे कहीं करकती हुई मालूम पड़ी, जब तक कि.....

एकाएक इस आदमी को, अपने चिन्तन के प्रदेश में, जैसे धक्का लगा और वह घबडाकर खडा हो गया। उसने देखा, उस लड़के ने

गिलहरी पर गुलेल तानी—गिलहरी अभी तने तक न पहुँच पायी थी—और जब तक वह आदमी उसे चिल्लाकर रोके, उसने गुलेल छोड़ दी, और इस आदमी ने—आधी चीख बाहर और आधी चीख भीतर, आधी जान बाहर और आधी जान भीतर—देखा, गिलहरी जहाँ थी, वहीं ढेर हो गई। वह बेसुध होकर बेंच पर से गिलहरी के पास दौड़ा—यद्यपि जल्दी मे उसका कपड़ा भी फँसकर फट गया—और दूसरे पल वह दम तोड़ती हुई गिलहरी के पास था। वह शिकारी लड़का लुटा-सा खड़ा था; लेकिन इस दर्द से बेबस आदमी के पास वक्त न था कि उसकी तरफ देखता या उससे कुछ कहता। उसने देखा, गिल्हरी में अब भी कुछ जान बाक़ी थी और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद जरा-ज़रा सी साँस लेकर वह दम तोड़ रही थी। उसका पेट ऊपर-नीचे आता जान पड़ता था। वह आदमी पास के नल के पास दौड़ा और अंजलि मे थोड़ा सा पानी लेकर दौड़ता हुआ आया। लेकिन उसने आकर देखा, पानी लाना बेकार हुआ... ..उसने पानी उस पर छिड़का, लेकिन वह मिनकी तक नहीं। और पानी भी नाका-मयाब होकर उसकी काली धारियों और नरम गात से फिसलकर जमीन पर आ गिरा।

उस आदमी को जबर्दस्त ठेस लगी। और उसने विचारा, 'कैसा विषम अन्तर है—कहाँ वह चमकती हुई मोतीदाने-जैसी आँख और कहाँ यह पथरायी हुई बेजान मट्टी; कहाँ वह फुदकना और कहाँ यह जड़ होकर सो रहना; कहाँ वे चौकन्नी आँखें फेंकना और कहाँ अब विपत्तियो के हाथ समर्पण कर देना!...कैसा विषम अन्तर है भगवान् .. जीवन और मृत्यु मे। अभी पल भर पहले इसने स्फूर्ति से बिदा ली होगी और अब...पत्थर की तरह निश्चल और अपने मुँह के कोने

से छूटकर गिरे हुए तिनके की तरह बेजान !' उस आदमी ने पानी लेकर उसकी आँखों को सहलाया, बदन पर हाथ फेरा, चूमा-चाटा, लेकिन वह गिलहरी न जागी। उसकी आँखें पथरा गयी थीं, और जिस्म बर्फ की तरह ठण्ढा हो गया था। और चालीस वर्ष का एक अधेड़ आदमी, जिसके बाल समय से पहले ही पक चले हों, जिसने तकलीफें कम न सही हों और झुर्रियाँ जिसके माथे पर समय से पहले ही आकर रम गयी हो, उसी के पास बैठा हुआ ज़ार-ज़ार रो रहा था; उसकी हिचकियाँ न बँधी थीं, लेकिन आँसू के क़तरे ज़ारी थे। .. उसका दिल चाक हो गया था। ऐसी पकी उमरवाले आदमी को इतनी छोटी-सी बात पर यों ज़ार ज़ार रोते देखकर लोगों को अचरज हुआ और एक छोटी-मोटी मजलिस जमा हो गयी यह देखने के लिए कि एक दुनिया की आग मे पूरी तरह पकाया गया आदमी एक बिल्कुल मामूली-सी बात को लेकर—एक लड़के ने गुलेल तानी और गिलहरी मार दी—इतनी भावुकता यानी बेवकूफी का प्रदर्शन कर रहा है और यूँ उस मरी हुई चीज को अपने आँसुओं से धो रहा है, गोया गिलहरी न हुई, अपनी सगी प्या । उनको अचम्भा तो इस बात का हुआ कि आया यह आदमी इसी जमीन पर का है या फरिश्तों की दुनिया से आया है, जहाँ मुमकिन है ऐसे बेरहम दृश्य न देखने को मिलते हों। लेकिन इस जमीन पर तो गिलहरी की कौन कहे, लोग आदमियो को इसी तरह बेरहमी से मार देते हैं, और आदमी भी इसी गिलहरी की तरह बिना पानी के सिसक-सिसककर दम तोड़ देता है और फिर उसकी मौत पर सिवाय उसके आसपास के दो-एक लोगों को छोड़कर और किसी के एक क़तरा आसू भी नहीं निकलता। और फिर ..ऐसी दुनिया मे गिलहरी की बिसात क्या कि उसे लेकर यूँ बेबस होकर आँसू गिराये जायँ !—

निकम्मी सी बात जान पड़ती है। लोगों ने कहा भी : कैसा बुड्ढा बच्चा है। और वह आदमी भी कौन-सी बात लेकर यूँ विवश होकर रो रहा था, यह शायद वह जानता रहा हो—उसके आँसुओं से ढके मुँह की चिन्तित दीप्ति में यह बात लिखी हुई थी—लेकिन हमें नहीं मालूम...

लोगों का जमघट उसे अभी घेरे खड़ा ही था, जब वह एक अस्त-व्यस्त दशा में उठ खड़ा हुआ। हाथ में उसके तिनका था और लोगों के बीच से अपने को चीरता, अपना फटा कपड़ा झुलाता हुआ, वह बगीचे के किनारे अपने घर में घुस गया। अपने खास कमरे मे जाकर उसने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये और एक आरामकुर्सी पर धम से बैठ गया। फिर वह उठा और अपनी एक पुरानी मेज पर आकर—जिसकी लकड़ी सूख या निचुड़ चुकी थी और जिसमे अनेकों दरारें पड़ गयी थीं और उन दरारों में अजीब-अजीब किस्म के जानवर पलते थे—उसने बारी-बारी से सब ख़ानों को जल्दी से खींचना, फिर आवाज के साथ अंदर ठेलना शुरू कर दिया। आखिरकार उसे वह ख़ाना मिल गया जिसकी उसे तलाश थी। उसने उस ड्राअर मे से एक पुराना, जर्जरित.. लेकिन भलीभाँति अपना परिचित नक्काशीदार बक्स निकाल लिया। उस बक्स को देखने से साफ़ जाहिर था कि उसकी लकड़ी खदर गयी है और उसके साथ ही उसके खोलनेवाले का भाग्य किसी कारण से बहुत बार खोला-मूँदा गया है। नक्काशियों पर उँगलियाँ लगते-लगते वे भी घिस गयी थीं। और गोकि उस पर हर समय बहुत काफी गर्द पड़ी रहती थी, लेकिन वह धुला-पुछा-सा दीख पड़ता था।

इस आदमी ने उस बक्स मे पड़ी अनेकों चीजों मे उंगलियाँ दौड़ायीं। उस बक्स में उसकी पुरानी मुहब्बत के अनेकों खत पड़े हुए थे, लेकिन इस वक्त उसे उनसे कोई काम न था। उसकी उंगलियाँ

दौड़ती रहीं, जब तक कि उसे एक छोटा-सा हलका-फुलका लकड़ी का डिब्बा न मिल गया। उसे अपनी याददाश्त से यह बात मालूम थी कि उस डिब्बे में वही चीज़ थी, जिसकी उसे तलाश थी . और मानसिक दुःख या क्षोभ में याददाश्त और भी अधिक पैनी हो जाती है। ..

उसने उस डिब्बे को खोला और उस में जो कुछ देखा, वह हम अपने पाठकों को भी दिखा दे—उसमें एक तह रुई ऊपर और एक तह रुई नीचे, दोनों के बीच में एक छोटा-सा, एक इञ्च का तिनका बड़े जतन से रखा हुआ था। और जतन से नहीं तो क्या ऐसे ही यह तिनका पचीस साल पुराना होकर भी यों सुरक्षित रखा है। और खासकर जब इस तिनकेवाली घटना के ही समय और भी एक व्यापक घटना से सम्बन्ध रखनेवाली एक लड़की (जिसकी यादगार मे ये चिट्ठियाँ थीं, जिनके बीच वह लकड़ी का डिब्बा प्रतिष्ठित था) इस बेचारे उदास आदमी को निरन्तर अपने नाम की माला जपते छोड़कर ही आखिर अपने पति के घर मर गयी . यह सब कोई मामूली बातें हैं—लेकिन हमें इससे क्या? यह तो यों ही बता दिया ..

वह आदमी खुला डिब्बा हाथ मे लिये खड़ा था। रह-रहकर कभी-कभी उस तिनके को छू भी लेता था, और उसके चिन्तन की धारा जिस रूप में बह रही थी, वह इस प्रकार है :—

"उस दिन भी तो योंही कुछ धूप छाह का-सा खेल मचा हुआ था—पल में आफताब निकल आता था और पलमें ही बादलों की काली चादर में छिप जाता था। बरसात योंही नाममात्र को आ गयी थी, यद्यपि तब तक कोई गहरी वर्षा न हुई थी। योंही फुहारें आती थीं और थोड़ी-सी नरमी और ठण्ढक देकर निकल जाती थीं। उस

दिन भी ऐसा ही हुआ था। दो बूँद पानी गिरा था और साफ हो गया था। जमीन से सोंधी खुशबू निकलने लगी थी और चारो तरफ गहरी हरियाली नजर आती थी। मानो धरती हुलसकर आशीष दे रही हो।......"

"बहुत बरस हो गये, इसलिए बहुत साफ तो बात याद नहीं है, लेकिन तब भी खास बातें, मोटी बातें.. तब मैं सोलह बरस का था, और इसलिए एक तरफ जहाँ नादान शैशव मेरा पल्ला खींचता था, वहीं दूसरी तरफ पूरे आदमी होने की समझ और हविस जोर मार रही थी। लेकिन यौवन का पहला उभार सच पूछिये तो बचपन से भी नादान और बोदा होता है। मतलब यह कि अनेकों बेवकूफियाँ, ऊटपटाँग ख्वाहिशें, अपने को 'कुछ' समझने की धुन मुझ पर अपना वजन डाले हुए थीं . और यही बुरा था !

"जिस दिन वह घटना हुई उसके एक दिन पहले मैंने गाँव मे आनेवाले बिसाती से मामूली शीशम की एक छोटी-सी गुलेल तीन पैसे देकर खरीदी थी। मैं यों भी आम वगैरह मार गिराने मे अपने गाँव के छोटे-बड़े दोस्तों मे उस्ताद समझा जाता था।...यह भी एक दुर्भाग्य ही था।"

और उसकी आँख मे सूखे हुए आँसू एक बार फिर उतर आये—विषय की अँधेरी गहनता को सोचकर और यह याद कर कि उस कृत्य के हो जाने के बाद उसे मन के क्षोभ और ग्लानि और धिक्कार के रूप में कितनी गिराँ कीमत देनी पड़ी थी .. .

"हाँ, यह भी एक बदनसीबी ही थी कि मेरा निशाना अच्छा समझा जाता था। तो दूसरे दिन, जब कि समय सुहावना था और प्रकृति अपने हरे उल्लास मे रँगी खड़ी थी, मै सवेरे के वक्त अपनी

गुलेल लेकर निकल आया और चर्खी, मैना, पण्डुक वगैरह चिड़ियो की ताक में घूमने लगा। और मन में कसद भी कर रहा था कि अगर इनमें से कोई चिड़िया न मिल सकी, तो किसी गिलहरी को तो जरूर ही निशाना बनाऊँगा।..."

"..इस खोज में मैं तो घूम ही रहा था, मेरे साथ ही छोटे लड़कों का एक जमघट भी मुझे घेरे हुए घूमने लगा। कुछ का खयाल था कि मैं कुछ भी मार सकने में नाकामयाब रहूँगा और कुछ मेरे हिमायती थे, लेकिन मुझे तो सबको यह दिखा देना था कि मैं अचूक निशानेबाज हूँ और अगर बदनसीबी से और कुछ न मिल सके, तो गिलहरी तो कहीं गयी नहीं है।...पाप तो जैसे मुझे लगता ही न था, लेकिन लड़कों के उस हँसने और हिम्मत पस्त करनेवाले इशारों ने मुझे और भी जल्दी यह कर डालने के लिए मजबूर किया, जिसका सदमा जितना जबर्दस्त मुझे तब था, उतना आज भी है। चोट कुछ मामूली न थी। एक इतने अदना और नाचीज वाकये को लेकर मैंने तब से अपने को कितना धिक्कारा है और कितने तड़पते आँसू गिराये हैं, यह न पूछिये। और तब से मैं कितने अफसोस और कितनी नदामत का शिकार रहा हूँ, इसे भी मुझी तक रहने दिया जाय।..

"गोकि मजाक की बात जरूर मालूम पड़ती है कि एक ऐसी दुनिया में, जहाँ सितम हाँ सितम हो, एक ऐसा आदमी, जिसे महज सितम और जेरबारी बख्शी गयी हा, इतनी छोटी-सी बात पर आँसू का एक क़तरा भी बरबाद करे। फिर भी तबीयत पर काबू न हो तो...

वह दिन भी आजका-सा ही सुहावना था और प्रकृति नयी जीवनी शक्ति से छलकती हुई खड़ी थी, मानों कोई अमृत लुढ़का गया हो, और अपनी इस हयात और खुशी का इज़हार वह अपने लहलहाते

हुए हरे रङ्ग से दे रही थी—चारों तरफ तो जिन्दगी का पैगाम डोल रहा था। वहाँ खूँ-रेज़ी की गुञ्जाइश कहाँ थी। लेकिन मै तो हाथ में घातक गुलेल और हृदय में यह घातक विचार अपने को सुनाता हुआ घूम रहा था : 'बन्दूक और तोप से तो सब मार सकते हैं। इसमें क्या रखा है ? तारीफ तो मेरी तब हो, जब मै गुलेल से मारूँ और सो भी ज्यादा कंकड़ों की जरूरत न पड़े। सिर्फ एक निशाने में . ...बस वहीं पेट के पास में और काम तमाम। गोली के मानिन्द कंकड़ी बहुत तेजी से अन्दर घुस जायगी, वहीं निशान बन जायगा और वह निशान भी किसी को न दिखेगा।.. वहाँ से निकलती हुई खून की एक पतली रेखा तो बस होगी, जो किसी को दीख पड़ेगी। इससे ज्यादा क्या ? लड़को का झुण्ड पीछे दौड़ पड़ेगा और उन सबके मुँह पर, जो मुझ पर हँस रहे हैं, कालिख पुत जायगी। और...और मैं विजयी होऊँगा। सब मेरी तारीफ करेंगे, तो मैं भी कैसा फूला न समाऊँगा।

"और इस सबके बीच न तो मुझे यही सूझा कि यह बात भी सम्भव है कि मै पुरानी कहानीवाली उस मेढकी की तरह इतना फूल जाऊँ कि समा न सकूँ और फूट पड़ूँ। और न मुझे इन सारी हिंसक प्रवृत्तियों के बीच यह बात एक बार भी—धीमी आवाज में ही क्यों न हो—सुनाई दी कि कैसा हो अगर मैं एक मरती चिड़िया पर पानी छिड़क कर और एक मरती गिलहरी पर दो अंगुलियाँ फेरकर उन्हें जिला सकूँ। कैसा आह्लाद होगा, जब चिड़िया तन्दुरुस्त होकर फुर्र से उड़ जायगी और फिर परली तरफ के बाँस की लचीली डाल पर जब वह पक्षी कोई नगमा अलापेगा, तो ऐसा लगेगा मानो वह मेरी बड़ाई और कृतज्ञता में कुछ कह रहा है।"

वह आदमी उस डिब्बे पर सिर झुकाकर फफक-फफककर रोने

लगा..... जिसमें उसे चैन नसीब हो जाय। उसका चेहरा आँसुओं से भर गया और बूँदें कुछ-कुछ देर पर आँख के कोनों से टपककर रुई की उन दो तहों को भिगोने लगी।. लेकिन उसके चेहरे पर सन्तोष लहरे मार रहा था। .

"और न मुझ अभागे ने यही सोचा कि जब वह मासूम नन्ही सी गिलहरी चङ्गी होकर हौले हौले उछल-उछलकर अपने घोंसले मे पहुँच जायगी, तो मैं क्या स्वयं अपनी कृतज्ञता के भार से न दब जाऊँगा? . लेकिन नहीं, मैं तो हिंसा पर आमादा था। और तभी न मुझे ऐसा निर्मम धक्का लगा, जिससे मैं अब तक न उबर सका और एक पुश्त गुजर जाने के बाद आज तक पुरानी हड्डी खोदकर (उस गिलहरी के नाम को तो कम और अपने नाम को ज्यादा) रो रहा हूँ।......ठीक है न?

"आज जब उस सारी घटना पर विशद रूप से विचार करना ही पड़ रहा है, तो मै भी क्षोभ की इस बाढ़ में सन्तोष का एक तिनका यही पा लेता हूँ कि मै भी किसी बड़ी ताकत की मातहत ही उस समय काम कर रहा था। कुछ ऐसा दुर्भाग्य कि कोई चिड़िया बैठे, मैं हाथ का हिलाना बन्द करके निशाना लूँ और इसी बीच वह उड़ भी जाय—मुझे खिसियाना-सा और प्रतिहिंसा की आग से फुँका हुआ छोड़कर। मेरे साथियों की जुमलेबाजियाँ और आवाजें तथा हँसी सब बढ़ती ही जाये। और इस तरह गोया मेरे सुलगने का रहा-सहा सामान भी इकट्ठा होने लगा।...

"आखिरकार बहुत ऊबकर, मुँह की कालिख छुड़ाने के लिए मैं गिलहरी पर उतर आया। और मुझे ऐसा लगा कि मेरे सिर पर नाचते हुए शैतान ने गिलहरी का इन्तजाम भी पहले ही से कर रखा

था...क्योंकि मन मे विचार आये दो पल भी न हुए थे कि मुझे एक गिलहरी पास के पेड़ से उतरती दीख पड़ी।—बिलकुल ऐसी ही गिलहरी, जिस पर मैं अभी आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाकर, और इस प्रकार अपने उनींदे विषाद को फिर से जगाकर आया हूँ। ऐसी ही धारियाँ, ऐसी ही नादानी.. दुनिया के मक्कार और दगाबाज आईन-कानून से, आँखो मे वही पानी, वही चमक दमक, इल्तमास, साथ ही वही गिला—सब कुछ वही...ओह, कितना दर्द !

"उसके दाँतो में भी ऐसा ही तिनका दबा हुआ था..."

उसने दोनों तिनकों को आमने-सामने रखकर मिलान किया; फिर बारी-बारी से दोनों को चूमा, आँख मे लगाया और रख दिया—

"दोनो बिल्कुल एक-से ही हैं। वह भी ऐसे ही मुँह में दबाकर पेड़ के तने की ओर बढ़ी थी, लेकिन पहुँच न पायी थी।·· मैंने निशाना लिया और गुलेल छोड़ दी, और मानो मेरी पुरानी आकांक्षा का उपहास करते हुए ('बन्दूक से तो सब मार सकते हैं! उसमें रखा ही क्या है। तारीफ तो मेरी तब हो, जब मैं गुलेल से · और सो भी एक निशाने मे...पेट के पास···रत्ती भर खून की पतली धार बह निकलेगी ·· सबके मुँह पर मेरी तारीफ · बड़ा मजा आयेगा।···') मेरा निशाना ठीक जानवर के नीचे लगा·· घाव बन गया · रत्तीभर खून की पतली धार बह निकली और जब तक मै विजय और खुशी के आवेश मे झूलता हुआ उस तक जाऊँ, वह मर चुकी थी—बिल्कुल वही मौत, जिसकी कि मैने उसके लिए पापी दिल से आरजू की थी। हाय! भगवान ने शायद तभी से मेरे लिए सजाओं का आयोजन कर दिया था!

"गया तो मैं दौड़ा हुआ उस तक अपनी फतह पर झूमने के लिए ही था, लेकिन हाय, जो तड़पता और कलेजे को वेदर्द नाखूनों से भंभोड़ता हुआ दृश्य देखा, उसने मुझे कहाँ से कहाँ ला पटका। आँखें पथरा गयी थीं—उनकी वह चमक-दमक और वह आव तो मुझे सपने की याद दिलाने लगी , जो सच था, वह सिर्फ इतना कि वे आँखें पथरा गयी थीं···और उनके साथ मैं भी। उसका जिस्म बर्फ़ की तरह ठण्ढा था , कोई उस वक्त अगर मुझे छूता, तो मेरे बारे में भी शायद वह यही कहता। लेकिन ये तो बेबात की बातें हुईं।···उस दिन भी ऐसा ही पाक और सुहावना दिन था और मैंने खूँ-रेज़ी की।

कौन जाने, इसका दण्ड मुझे कब मिलेगा। लेकिन मुझे याद है, मैंने गुलेल तोडकर फेंक दी थी, अपने काँपते हाथों से गिलहरी को बड़े प्यार से उठाया था, और उन्हीं काँपते हाथों से तीन हाथ गहरा गड्ढा खोदा था और उसमें उस गिलहरी को सुलाकर ऊपर से मिट्टी फैला दी थी। और मुझे याद है, कुछ दिनों बाद उस पर हरियाली भी कसरत से उग आयी थी···लेकिन हाय, मेरे सीने की उस मज़ार पर तो हरियाली का एक रेशा भी आज तक पूरी तरह न उगा··

उसके आँसू बहते-बहते कब सूख गये थे, उसे नहीं मालूम ; पर मालूम होता था कि उन्होंने भी भरसक कोई कसर न उठा रखी थी, क्योंकि उसके सामने पड़ी हुई रुई पानी से भारी हो गयी थी।

और मानो अपने को और सबको समझाते हुए उसने अपने चिन्तन को इस तरह समाप्त किया :

"और आज पच्चीस वर्षों के बाद भी मेरे अन्दर वह आवाज उसी तरह उठती है, जैसी कि पहली बार उठी थी···'क्या हुआ ! बस एक गिलहरी ही तो थी ' लेकिन उसका वैसा ही मुँहतोड़ जवाब आज

भी मौजूद है—'क्यों न आदमी के गले पर छुरी रेत दी जाय और इतनी ही मासूमियत और इतने ही भोले अन्दाज़ से इतराकर कह दिया जाय—क्या हुआ ? बस एक आदमी ही तो था...।'

"मालूम नहीं, यह कब तक की तपिश है—बेरहम और बेनियाज़!"

और उसने उस डिब्बे में एक तिनके के सङ्ग दूसरा भी रखते हुए दोनों को बहुत बेचैनी से लबो पर, फिर आँखो पर लगा लिया !

तीन चित्र

—एक—

इधर किसानों में नये सिरे से एक जागर्ति आ गयी है; और अपने हकों के लिए सारी ताकत और जाँफिशानी से लड़ने और लड़कर ले लेने का उन्हें वाजिब भरोसा हो गया है। यह सच है कि उन्हें उल्टी पट्टी पढ़ाकर बहला सकना अब उतना आसान नहीं है जितना कि पहले था।

उन्होंने अपनी एक सभा की और तय किया कि सरकार को अब लगान न देंगे। जमींदार घबड़ा गया—और इसमें अचरज ही क्या क्योंकि उसकी रोज़ी पर बीतने जा रही थी। निदान, वह दिन-रात उदास रहने लगा और अब उसे यही चिन्ता थी कि किस तरह से किसानों को लगान देने के लिए मजबूर किया जाय। उसने भी अपने मातहतों यानी पटवारियों, क़ानूनगोओं, क़ारिन्दों को बुलाया और रात

के अँधेरे में, धुँधली रोशनी मे, अपने अन्तःपुर मे एक सभा की। रात के एक बजकर पन्द्रह मिनट पर सभा विसर्जित हुई और ज़मींदार को छोडकर बाकी लोग बाहर आये—ज़मीदार की आँखे नींद से वेक़रार बन्द हुई जा रही थीं, इसीलिए वह इन्हें दरवाजे तक भी पहुँचाने न आ पाया और तुरत सो गया। कारिन्दे ने अपनी मोटी लाठी फटकारी, कानूनगो ने अपना बिसाती से ख़रीदा हुआ दो आने का चश्मा सँभाला, जिसका एक शीशा सुफेद धागे से बँधा हुआ था और पटवारी ने कान पर से कलम उतारकर उससे खेलना शुरू किया।

···और सबों ने बहुत-बहुत नरम और गरम बाते बकीं, जिनमें दम-खम तो बहुत था, लेकिन जिनका सिर था न पैर।

किसानो की जागति मे सबसे मज़बूत हाथ हरखू का था। वह किसी से दबना न जानता था, किसान उसका लोहा मानते थे और उसे मुखिया बनाकर ज़मीदार से बाते करने मे उनका हक़ मारा न जा सकेगा, ऐसा उनको विश्वास था। इन्हीं सब बातो से कारिन्दा भी उससे 'तू' करके बात करने की हिम्मत न रखता था और ज़मींदार भी उसके आने पर चारपाई से उठ जाता था और उसको बैठने के के लिए मचिया या मोढ़ा मँगा देने का कष्ट करता था और इतना ही क्या, कभी-कभी उसे अपने हुक्के मे से ही दम भी लगा लेने देता था और ऐसी उसकी विशाल मेहरबानी हरखू छोड़ और किसी पर न थी। लेकिन हरखू साथ ही समझदार था और इन दिखावे की फ़रमाइशों में यह कभी न भूलता था कि वह किसानो का नुमाइन्दा है और उसे अपने हक़ इसी आदमी से ले लेने हैं जो उन्हें हड़प कर जाने पर अब उगलने से इनकार करता है।

इतना ही नही, हरखू की नेकचलनी की तारीफ ग्राम-ग्रामांतर में

थी। लोग कहते थे कि वह आँख नीची करके चलता है और किसी की बहू-बेटी पर पाप की नज़र डालना उसके लिए असम्भव है। और इस बात की तसदीक़ करने को सब तैयार पाये जायँगे कि गाँव की बहू-बेटियों को वह अपनी बहू-बेटियों की तरह मानता था।

× × ×

गाँव में रनियाँ बहुत खूबसूरत थी। उसका रंग चम्पई था; उसकी कमर लचीली और बल खाती थी; उसकी गोरी, मक्खन-सी कलाई पर काली चूड़ी बहुत फबती थी; उसकी उमर बीस साल की थी और उसकी आँख के कजरारे डोरे और साथ ही आम की फाँक जैसी उसकी वे आँखें तो इतनी खूबसूरत थीं कि मामूली आदमी की कौन कहे, ज़मींदार साहब के सबसे बड़े लड़के जो लखनऊ में पढ़ते थे और जिन्हें वहाँ की बहुत-सी परियों की सोहबत का नियाज़ हासिल था, वह तक उन आँखों और आँख के उन डोरों पर कुरबान थे।

हाँ, तो पिछली बात तो पूरी हुई ही नहीं। उस दिन शायद उन लोगों ने यही तय किया था कि अगर एक आदमी के भी गले मे फन्दा डालकर, फन्दा कसकर गला घोंट दिया जाय, तो बाक़ी लोगो के लिए एक सबक़ हो जायगा और मुमकिन है वह फिर हरामख़ोरी करने की हिम्मत न कर सके। उस 'एक आदमी' के लिए हरखू का नाम बाज़ाब्ता तरीक़े पर पेश किया गया था और सर्वसम्मति से पास हुआ था।

गाँव का दारोग़ा ज़मींदार का दोस्त था और उनके सग उठता-बैठता था और अकसर ज़नानखाने में बैठकर ज़मींदार साहब के संग ताश और गजीफा खेलना उसे पसन्द था; जिस खेल में सिर्फ़ कुतूहल-वश ज़मींदार की बीबी भी शरीक हो जाती थी क्योंकि वह शहर की

लड़की थी और ये सब खेल उसे आते थे। इतना ही नहीं, चाहे बात कुछ भी रही हो लेकिन गाँव में तो यहाँ तक ख़बर थी कि ज़मींदार-पत्नी दारोग़ा साहब से प्रेम करती हैं। और गोकि हमारा अपनी कोई ज़ाती राय रखना एक ग़लत बात होगी लेकिन महज़ असलियत इकट्ठी करने की ग़रज़ से इतना कहना ज़रूरी हो जाता है कि ज़मींदार साहब की अनुपस्थिति में भी दारोग़ा ज़मींदार-पत्नी से शायद राजनीति और अर्थशास्त्र के अहम मसलों पर सलाह-मशविरा करने जाया करता था! लेकिन हमें उससे क्या...।

जमींदार का दारोग़ा से जब इतना घरोपा था तो यह कौन-सी मुश्किल बात थी कि एक गाँव में—जहाँ पर सल्तनत बरतानियाँ का सबसे उजला मुँह देखने को मिलता है गो कि वे ब्रिटिश सरकार के कभी न डूबनेवाले सूरज की रौशनी से वंचित हैं!—हरखू को, बद-चलनी के जुर्म में पकड़ मँगाया जाय और हिरासत में बन्द कर दिया जाय? और मुकम्मिल यानी बेबुनियाद और पक्की यानी पहली ही ठोकर से भरभराकर ढह पड़नेवाली शहादत की बिना पर यह भी साबित कर दिया गया कि रँनियाँ के गर्भ है। लेकिन यह गर्भ किसकी देन है, इस विषय में शक किया जा सकता है क्योंकि चार महीने हुए जब जमींदार-कुल-शिरोमणि लखनऊ से तशरीफ लाये थे और उस वक्त इस बात की तसदीक जानकार हलकों में की गई थी कि सचमुच रँनियाँ और जमींदार के बेटे नन्दनन्दन में बहुत पटती है...

खैर, बात कुछ भी रही हो, हरखू पर मुकदमा चला और उसे इंडियन पीनल कोड की ३७३वीं दफा के अनुसार कुछ सालों की कैद हो गई। लेकिन एक सवाल उठता है कि आख़िर रनियाँ ने जमींदार के मुआफ़िक़ और हरखू के ख़िलाफ शहादत दी ही क्यों? और जब

कि वह एक लफ्ज से ही तख्ता पलट सकती थी ? लेकिन इन सवालों का जवाब उतना मुश्किल नहीं है जितना कि मालूम होता है। चाहे सही, चाहे ग़लत रनियाँ को पहले से ही बड़ी बुरी तरह डरा और धमका दिया गया था और अगर सच पूछिये, तो ऐसा करना जरूरी भी था क्योंकि रनियाँ के एक अवांछित शब्द के कह देने भर से जमींदार—जो कि ईश्वर का प्रतिनिधि है—की इज्ज़त पर धब्बा लग सकता था ··

मतलब यह कि हरखू को कैद हो गई और जमींदार साहब ने जो सोचा था कि ऐसा करने से—यानी एक को मार देने से—बाकी लोगो को कुछ सबक़ मिल जायगा, यह योजना भी कुछ अंशों में सफल रही और इस तरह एक आदमी को जुल्म का शिकार बनाकर और उसके पुतले को गाँववालों की डरी आँखों के सामने टाँगकर उन्हें वसूली करने में कुछ सहूलियत ज़रूर हुई ··लेकिन एक बेढङ्गा सवाल खटकता रह गया, 'कब तक ?'

× × ×

गाँव मे मनहूस कौवों ने बड़ी आफत कर रखी थी। एक तो हरामज़ादे दिन-भर टाँव-टाँव करके कान खा जाते थे। दूसरे सब इतने ढीठ थे कि थाली मे से रोटियाँ उठाकर भाग जाते थे और किसी सूरत से मानते ही न थे। इसके अलावा, उन आफत के परकालों से बेचारे जानवरों को बड़ी तकलीफ थी क्योंकि वे पुराने घावो और बासी चोटों पर बैठकर नाहक उसे कुरेदते और दर्द पहुँचाते थे···

जब सबों ने नाक में इस बुरी तरह दम कर दिया तो एक दिन गाँव के पिताओं यानी 'सिटी फादर्स' ने एक पंचायत बिठाली और तय किया कि एक सिंगल फायर की बन्दूक मँगाई जाय। बन्दूक मँगाई

गई और जब कौवों का झुण्ड आकर बैठा, तो उसमें से एक कौवे को मार दिया गया। इसके बाद उसकी लाश को, एक मामूली से अधिक मोटे डोरे में उल्टा बाँधकर सरपच की हवेली की कारनिस से टाँग दिया गया...

और यह योजना भी बहुत अंशों मे सफल रही।

× × ×

—दो—

जब सुरेश अपनी बेहोशी से उठा, उसने अपने को एक बिल्कुल सूनी जगह में अकेला पड़ा पाया। उसने दिमाग़ पर ज़ोर देकर याद किया तो उसे सारी बात इन शब्दो में साफ होती मालूम पड़ी :

वह रेखा को प्यार करता है। रेखा उसे प्यार करती है या नहीं यह जानने का उसे अवकाश नहीं है। रेखा को प्यार करनेवाला एक दूसरा भी आदमी है। इस तरह वह सुरेश का प्रतिद्वन्दी है। हो न हो, यह उसी की कारस्तानी है और उसी के लगाये हुए बदमाशों ने उसे मारपीटकर वहाँ उस सूनी जगह मे डाल दिया है। उसके संग दो 'दोस्त' थे लेकिन यह कैसी बात कि उन्होने भी ऐसी किसी दुर्घटना का कभी नाम न लिया! और यह क्या कि इतनी सादगी से, वे उसे उस निर्जन वीराने मे मरता छोड़कर भाग गये? पहले की साजिश जरूरी है वाह रे दोस्त!...'

बदमाशों ने बुरी तरह पीटा था—एकदम कचूमर निकाल दिया था। कहीं की हड्डी टूट गई थी, कहीं मोच आ गई थी, और छिला हुआ तो पचासो जगह था। बदन-भर मे बला का दर्द हो रहा था। बेचारे का करवट लेना या उठना मुहाल था। एक तरफ जरा-सा जोर पड़ता तो नये घाव की पपड़ियाँ उखड़कर दर्द पैदा करतीं। वह चलने

फिरने में बिलकुल अशक्त हो रहा था। उसने एकाध बार उठने की कोशिश भी की, लेकिन दर्द से बेचैन होकर फिर गिर पड़ा।

इस प्रकार सुरेश कुछ देर विस्मृति और बेहोशी की हालत में पड़ा रहा, और कुछ देर के आराम के बाद, उसने अपने में इतनी ताक़त महसूस की कि किसी तरह से जोर लगाकर, उठकर, लँगड़ाता-लँगड़ाता, ठोकर खाता, गिरता पड़ता हुआ घर की ओर बढ़ सके।

जब वह अपने मुहल्ले में पहुँचा और उसका घर केवल एक फर्लाङ्ग रह गया तो उसने पास ही अपने दोस्तों को सरगोशियाँ करते देखा। वे आपस में धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उन्होंने जब पास ही सुरेश को देखा तो झेंप उनके चेहरे पर लिखी हुई थी। लेकिन उनके चेहरे की सुरमई कालिख से सुरेश यह न कह सका कि आया अपनी हरकत पर वे सचमुच शर्मिन्दा और नादिम हैं···

वे दोनों दोस्त सुरेश की तरफ बड़े इसरार और बड़ी मुहब्बत के साथ लपके और उन्होंने मानो सुरेश के मुँह में मुँह डालते हुए कहा—ओ हो, तुम आ गये ! कैसे बदमाश लोग हैं दुनियाँ में ! कैसे बेजा तरीक़ों से दिल का गुबार निकालते है, ईश्वर ईश्वर ! तुमको वहाँ चोट लगी तो हम डॉक्टर बुलाने के लिये इधर बदहवास-से आये और तब से शहर का कोना-कोना छान डाला लेकिन कोई मरदूद हरामज़ादा डॉक्टर वहाँ जाने के लिए न मिल सका। अभी हम लोग आपस में यही बातें तो कर रहे थे कि आख़िर अब इस सूरत में किया क्या जाय ! तुम्हे चोट लगी, तो ऐसा लगा कि कलेजा बरछियों से भिद गया हो, बिलकुल क़हर-सा गिर पड़ा ! यानी मुझे तो ऐसा धक्का लगा कि मै कुछ देर के लिये पागल हो गया ! अपने दोस्त ऐसे ही तो होते हैं—एक जान दो शरीर ; जिसे दोस्त के दर्द में दर्द न महसूस हो,

वह भी भला आदमी है! क्यो, ज्यादा चोट तो नहीं आ गई है? कहो तो हम दोनों तुम्हे अपने हाथो के स्ट्रेचर पर बिठाकर घर पहुँचा आयें—स्कूली दिनों में स्काउटिंग सीखी थी न?

और उन्होने झेंप मिटाने के लिए ज़रा हँसने की कोशिश की, लेकिन सुरेश के मुँह पर के अमित्रभाव को देखकर वे सहम गये और वह दग़ाबाज़ हँसी उल्टे पावो लौट गई।

उसके चेहरे पर एक तीखी, चुभती हुई, खिन्न मुसकान थी और उसने बड़े संक्षेप में लेकिन तने हुए शब्दो मे कहा—हाँ चोट तो लगी ही है, उसमें कुछ कहने-सुनने को बाकी नहीं है और यह हमदर्द सवाल अगर वारदात के मौके पर पूछा गया होता, तो शायद ज्यादा मुनासिब होता, अब यह निकम्मी राल बिखेरना कोई मतलब नहीं रखता! क्यों, ठीक कहता हूँ न?

और सुरेश बिना उनके जवाब की प्रतीक्षा किये, उसी तरह लँगड़ाता हुआ आगे बढ़ गया। दोनों दोस्त खिसे-से, पिटे हुए खड़े थे।

× × ×

मैंने अपनी आँखो से देखा, एक जगह चींटों का एक जमघट था। शायद वे खुशियाँ मना रहे थे।

दुर्भाग्य की बात, एक चींटा मेरे पैर से दब गया। वह एकदम कुचल न गया था और अभी ज़िन्दा था यद्यपि चोट उसे सख्त आई थी।

...मैं सच कहता हूँ, सारे चींटो ने अपनी खुशियाँ उसी दम बन्द कर दीं; कुछ चींटे आये और अपने उस घायल दोस्त को लेकर, अपने ऊपर लादकर ले चले। बाकी चींटे पीछे-पीछे ग़मगीन चल रहे थे।

वे उस घायल चींटे को मरता छोड़कर आगे न जा सके··· शायद इसीलिए कि वे आदमी न थे।

× × ×

—तीन—

तुम क्या जानो, मैंने एक तितली पकड़ी। इतनी खू रंग-बिरंगी जितनी कि पहले कभी देखी न थी। उसकी पूरी रंगो की थी। एक सरसों के रंग की पीली और दूसरी काली। ज़मीन पर नीली और एक-दो कत्थई छींटे थीं और सुफेद। और इन सबके बीच एक लाल रंग की बड़ी थी। वह बहुत ही खूबसूरत थी। मैंने उसे बेले के फू और कोशिश करके पकड़ लिया।

थोड़ी देर हाथ में लिये हुए उसका मुँह कभी इधर उधर को करता देखता रहा। लेकिन इसी बीच कोई और तितली जो कि लगातार भागने के लिए पखों से ज़ोर थी, हाथ से फिसलकर उड़ गई। लेकिन ऐसा करने में उ सा रंग मेरे हाथ में छूटकर आ गया और उसके पखों का हिस्सा··· और इस तरह रगों से ख़ारिज और पख कटे हुए वह अपना सारा लावण्य खो बैठी और बेहद कुरूप और भद्दी दीख लगी · अब वह बुड्ढी हो गई थी और उसे पकड़ने के लिए मन ललचता था। इसलिए जब वह फिर जाकर दूसरे फूल पर बैठी, मैंने उसकी ओर ताका तक नहीं और दूसरी किसी खूबसूरत तितली की तलाश में आँखे दौड़ाता रहा··· और विकट सत्य तो यह है कि मुझे इस बात का तनिक भी ध्यान न रहा कि इसे कुरूप और भद्दा बनाने

का सारा उत्तरदायित्व मेरा है ··मैं, मैं जो उससे घृणा करते हुए भी अपने को इंसाफ़पसन्द समझता हूँ···तुम क्या जानो।

× × ×

लखनऊ मे चमेलीजान का नाम आप शौक़ीन बच्चे-बच्चे से पूछ लीजिये। कोई ऐसा न होगा जो चमेलीजान को न जानता हो। कमसिन, उभार पर की उमर, ऊपर से सुडौल जिस्म—पतली कमर, गोल कलाइयाँ, चाँद-सा मुखड़ा, चम्पई रंग, जिसमें एक ख़ास पीलापन था जो खरीदारों को ख़ास स्वादिष्ट मालूम पड़ता था, मछली-सी आँखे और कान में वे मकड़ी के जालेनुमा बुन्दे सब कुछ ऐसा था (संग मे वह मुस्कराहट) कि जिसका एक बार उससे परिचय हुआ, बस चमेलीजान का मुरीद बन बैठा।

लखनऊ में बहुत दिनों से उनका बोलबाला था। उनके मकान में घी के चिराग़ जलते। सब से ज्यादा हरी-नीली रोशनियाँ उन्हीं के यहाँ दीख पड़तीं और उनका कमरा बासी और ताज़े फूलो, नर और मादा फूलो, अल्हड़ और सधे हुए फूलों के वज़न से कराहता रहता··

कुछ बरस बीत गये।

चमेलीजान का मकान अब भी वहीं है जहाँ पहले था। लेकिन अब, न वहाँ फूलों की वह भरमार है और न वे रोशनियाँ। सब कुछ उजड़ गया· गोया चमन से बुलबुल बोलकर हट गई।

·· ज़वाल आया, उमर ढल गई, अन्दाज़ बासी हो गये, जिस्म से जवानी ने रुख़सत ली···और दोस्त खिंच गये, अपने बेगाने हो गये···

···और एक दिन तो मुझे सचमुच अचरज हुआ जब मैंने देखा

कि उसके चिराग़ गुल हैं, मकान में ताला पड़ा है और दरवाजे पर एक अजीब-सी बेमानी तख्ती लटक रही है—

'यहाँ अन्दाज़ बिकते हैं, और गौर से सुन लो कि इन्हें खरीदने-वाले धनकुबेर असलियत में दीवालिये होते हैं। यहाँ इन्सान की हैवानियत नाचती गाती और सिर धुनती है।'

...'अपने खुशी के भूचाल में खोया हुआ आदमी एक चीज़ को खुद ही मुर्दा और बासी बना चुकने के बाद, उसी से नफरत करने लगता है, करने की जुरअत रखता है!

...अजीब क़ायदा है।

प्रेम = अँगूठी + इयररिंग

उपेन जो कि मृणाल को भूल चुका है, और मृणाल जो कि उपेन को भूल चुकी है।

एक फीकी-सी याद के बल पर, उपेन ने प्रेम उँड़ेलते हुए मृणाल से कहा—कहाँ जा रही हो, मृणाल? घर न? ठीक है ठीक है, सो तो मैं जानता था। मैं भी तो उधर ही जा रहा था।

मृणाल ने स्वाभाविक आपत्ति की—कैसे? आप तो कहीं और को जा रहे थे? उलटी तरफ?

उपेन ने जैसे मुँह पर चढ़ती हुई लाली को पोछते हुए कहा—हुः हुः! नहीं तो। जा तो वहीं रहा था। पर समझो दूसरे रास्ते से। मैं और कहाँ जा सकता था!

इस बात के कहते ही उपेन को ऐसा लगा कि वह झूठ बोला है, कि उसने अपने को धोखा दिया है, कि उसके मुँह पर लाली बरबस ही चढ़ रही है।

इस लाली को जब उपेन वास्तविक-सी बना चुका, तो उसने फिर बात छेड़ी— चलो तुम्हें कुछ दूर पहुँचा दूँ—(उसने आगे की ओर उँगली से इशारा किया)—आखिर कुछ हमारी पुरानी दोस्ती का भी तो तकाजा है।...नहीं, नहीं, तुम यह न कह सकोगी कि आप तकलीफ न करें। नहीं, मुझे कोई तकलीफ न होगी। तुम्हारे ऐसा कहने से ही मुझे सबसे ज़्यादा दुःख होता है। बोलो, तुम मुझे ग़ैर समझती हो? कोई फॉरमैलिटी की बात नहीं, मृणाल! तुम तो फिर जानती ही हो कि मै अपना आदमी हूँ।

उपेन और मृणाल साथ-साथ सुनसान वीराने में पैर बढाने लगे। रास्ते मे दायीं-बायीं तरफ दूर तक फैले हुए चीड़ के जङ्गल हैं, जो उस वीराने में अजब लगते हैं। ऊँचे-ऊँचे देवों से! उनकी मूक महत्ता अवश्य ही मन पर छाप मार देती है। समस्त विश्व नीरव है। सिर्फ किसी महीन जानवाले जीव की महीन आवाज ही रह रहकर उस नीरवता को भंग करती है। इसे छोड़ सब-कुछ नीरव है, स्तब्ध है—सॉय-सॉय!

उपेन के वाक्य के पिछले हिस्से पर, जो सबसे अधिक प्रेमानुसिक्त था, मृणाल एक ठहाका मारकर हँसी; और वह हँसी उस वीराने को चीरकर गूँज उठी। फिर उसने कहा—अरे, तुम क्या मुझे सचमुच उतना ही प्यार करते हो, जितना मैं तुम्हें करती हूँ! मेरे उपेन, तुम नहीं जानते, तुम्हारे प्रेम-रूपी पौदे को मैं कितना अपने हृदय का रक्त सींचकर पाल रही हूँ।

उपेन ने एक चीड़ के झुण्ड को दिखलाते हुए और अनुराग ढलकाते हुए कहा—मृणाल, तुम्हें याद है न? जब हम उसके नीचे आकर बैठा करते थे; दुनिया के सारे पाप और बुराइयों से दूर; बहुत

दूर। प्रकृति की इस, अहा, सुनहरी-सुहावनी गोद में। जब हम यहाँ बैठकर अपना नूतन संसार बसाया करते थे, जिसमें सदा बसन्त ही खेलता रहता था, सदा भौंरे ही गुञ्जन किया करते थे, सदा मत्त पराग का ही वितरण होता था, सघन अमराइयाँ होती थीं, पास एक सुहाना झरना बहता था, विश्व निस्तब्ध होता था। तब तो कोई भी आवाज न आती थी, मृणाल। सिर्फ दो भोले, शिशु सदृश, अनजान हृदयों का स्पन्दन वायु को चीरकर मुखरित हो पड़ता था!

यह सुनकर मृणाल को लगा कि यह आदमी जो इस समय कवि बन रहा है, प्रेमी बन रहा है, अपने भूखे शब्दों के अक्षय भण्डार को खर्च कर रहा है, आवारा है, बदमाश है, ढोंगी है! पर मृणाल चुप किये बैठी रही, क्योंकि प्रेम का पहला तकाजा तो यह है न, कि मन की बात गुप्त रहनी चाहिए। जबान मीठी, दिल कड़वा; जबान मोहनभोग, दिल सबसे कड़वे नीम की सबसे कड़वी निमकौड़ी। तभी तो दोस्ती निभ सकती है। वह रह-रहकर प्रेम-मदिर आँखों से उपेन की ओर ताककर उसे मतवाला और निहाल करने की भी चेष्टा कर रही थी; क्योंकि उपेन भी दोस्ती का मतलब समझता है।

उपेन ने एक-सौ-एकवीं बार जबान हिलाकर यह बात कही—मेरी मृणाल! तुमको तो मैं हमेशा से इसी तरह प्यार करता रहा हूँ। तुम तो मेरी हो प्रिये!

मृणाल ने सौवीं बार कहा—मेरे उपेन, भला तुमको भी इसमें शक है! गो कि तुमने कोई 'डीसेन्ट प्रेज़ेन्ट' लाकर नहीं दिया, फिर भी (रुककर)—तुम्हें यह तो शक न होना चाहिए कि मैं तुम्हें अपनी जान से भी ज्यादा प्यार करती हूँ!

इन्हीं शब्दों को वह निन्नानवे बार, उपेन छोड़, दूसरों से कह

चुकी थी। इसलिए इन्हें फिर कहने में उसे खास तकलीफ न हुई। ये रटे हुए शब्द थे।

उपेन को उत्तर अच्छा मिला था। उसने 'प्रेज़ेन्ट' वाली बात को पीछे डालकर, एक चुम्बन चुराने की कोशिश की, और मृणाल को अपनी बाहों में भींचना चाहा।

मृणाल ने छिटककर कहा—पागल न बनो, उपेन! कैसे जानवर हो!

फिर दूसरे ही क्षण इस क्रोध को परे फेंक, वह उपेन की ओर अनोखे ढंग से ताककर मुसकरा दी।

मृणाल घर जाने को मुड़ी; और उसने नमस्ते कर ली। जब वे एक दूसरे से इतने गज दूर हो गये कि कान को कान न सुने···तो उपेन ने कहा—अच्छी चिड़िया है। धीरे धीरे आ रही है। दाना बिखेर तो दिया है। आयेगी ही। ढंग तो अच्छा खेला।

तो मृणाल ने कहा—पहले पाँच। यह छठा उपेन। जाल तो अच्छा फेंका है। मृणाल, तारीफ है री, तेरी कनखियों की। एक न एक अँगूठी और इयररिंग दे ही मरेगा!

ताक़त और खुदा

दृश्य १]

[समय—काले पाख की अँधियारी। रात के बारह बजे। सुनसान, वीरान जंगल जो रात के अँधियारे में आदमी को खा डालेगा। सारा संसार निस्तब्ध है, डरा हुआ। बीच बीच में शेर की दहाड़ या भूखे भेड़िये के फटे गले के खुर्र-खुर्र, खों-खों, गों-गो से निस्तब्धता भंग हो रही है। मचान पर बैठे हुए दो आदमियों में फुसफुसाहट होती है।

. अपनी इच्छा के विरुद्ध ही, साँकल के ज़ोर पर एक अभागा बकरा पेड़ के निर्मम तने से बाँधा जा रहा है।]

बकरा (रोकर)—देखो, मुझे मत बाँधो। मेरी जान न लो। मेरी स्त्री है। मेरे बच्चे हैं। उनके खाने का कुछ ठिकाना नहीं। वे भूखों मर जायेंगे, उन अपदार्थ कीड़ों की तरह जिनके जीवन के तागे में ही घुन लगा होता है और जो मौत को एक मामूली सी दुर्घटना से

अधिक कुछ मानने की मूर्खता नहीं करते। (उसके आँसू सूख चले) ऐसी हृदयहीन निर्दयता से मुझे मत मारो...मत मारो। मेरी तुम्हारी ज्यादा दिन की दोस्ती नहीं। योंही मैं तुम्हारे लिए कैसे मरूँ !...

शिकारी साहब—(हँसती हुई आँखों को मीचते हुए और क्रूर प्रकार से हा-हा-हा करते हुए) ओह, क्या बकबक करते हो ! मै सब सोच लूँगा, समझ लूँगा। (फिर हँसता है।)

बकरा—(छलकते हुए आँसुओं को कापुरुषता समझते हुए उन्हें रोकने की चेष्टा करता है। रुद्ध स्वर में) तुम मुझ पर हँसते हो ! ..

साहब—हो-हो-हो ही-ही-ही-ही ख़ा ख़ा-ख़ा (देर तक हँसता है)

बकरा—[आँखे लाल और चमकने लगती हैं।] तुम जानवर हो !....

साहब—मैं जानवर हूँ ! अच्छा, मैं जानवर हूँ। (व्यगपूर्ण हँसी हँसता है।)

बकरा—नहीं, तुम राक्षस हो...पापी हो दैत्य हो . आदमी हो...।

साहब—अच्छा, जानवर नहीं, मै राक्षस हूँ। मै वो ही सेटन हूँ जिसने हौआ के कान मे आदम से निषिद्ध फल खाने का आग्रह करने को कहा था। अब तुम खुश हो न ? मै वो ही सेटन हूँ। वो ही। अ— हा-हा-हा-हा [देर तक हँसता रहता है।]

बकरा—तुम मुझ पर दया नहीं खाते ?.. ? ? मैं पशु हूँ। इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकता। मुझे छोड़ दो . छोड़ दो ! [पैर फटकारता है। गला छुड़ाना चाहता है। रस्सी कस जाती है। आँखे निकलने निकलने हो आती हैं।] मुझे शक्ति पाने दो कि मैं तुम्हारे लिए मर सकूँ।

साहब— (लाल, प्याले की तरह गोल आँखे निकालते हुए) क्या

रट लगाई है ?...कौन गधा कहता है तुम मेरे लिए त्याग कर रहे हो ! ('त्याग' शब्द पर खी-खी-खी करता है) मेरे लिए मर रहे हो ! (उसी क्रूर तरह देर तक हँसता रहता है और अपनी दानवी खुशी में पुट्ठो पर फट्ट-से हाथ मारता है और चुप हो जाता है ।)

बकरा—(अपने विचारो में मग्न बोलता चला जाता है) मैं अभी नहीं मरना चाहता ! नहीं-नहीं । मुझे सुन्दर तितलियोवाली दुनिया देखने की साध है । जब मेरा मुँह अनजाने में कडुआ हो उठेगा और मरने को कहोगे, तो फिर मर सकूँगा । . तुम मेरी हत्या ! ...!...!...! (साहब की आँखों में घूरता है ।) कर रहे हो ! यह पाप है ।

साहब—(आँखे चढ़ाते हुए) पाप-पुण्य मैं सब समझ लूँगा, पर तुम मुँह तो अपना चुप करो । शिकार चौकन्ना हो जायगा । (खाँस कर थूकता है और झिड़क कर) बड़े बातूनी हो । मेरे नुक़सान-फायदे का ख़याल नहीं करते ?

बकरा—नुक़सान-फ़ायदा ?...!

साहब—(दाँत पीस कर) चुप बदमाश ! नहीं गोली मार दूँगा । पत्ती खड़क रही है । शेर आ रहा है । मैं राइफ़ल तौल रहा हूँ । अपनी बात फिर कह लेना ।

बकरा—शेर द्वारा चिथड़ा-चिथड़ा किये जाने के बजाय, मुझे गोली की मौत मरना कबूल है.. लेकिन तुम मेरी बात तो सुनो ।

साहब—फिर कह लेना, फिर !

बकरा—(निराशा की हँसी हँस कर) फिर कब ?

साहब—(गुस्से से लाल अंगार हो जाता है ।) कह दिया, फिर कभी । अभी नहीं ।

बकरा—(कुछ कहने की चेष्टा करता है। मुँह खुलता है।)...

साहब—(आपे से बाहर होकर, मुट्ठी बाँधता है) नहीं, नही, नहीं।

बकरा—(उसका मुँह 'गिर जाता' है) ओफ, तुम भी कितने निर्दयी हो।.. मुझे जबर्दस्ती मौत के घाट उतारने से तुम्हें क्या मिलेगा ?. बोलो ?

साहब—(आँखें नचाते हुए) क्या नहीं मिलेगा ? पन्द्रह फुट का एक आदमख़ोर.. उसकी खाल..और...और नाम !...!

बकरा—(छिपे कटाक्ष में) और मुझे ?

साहब—(न समझते हुए) यही सतोष कि तुम मेरे लिए मर रहे हो। .

बकरा—इसे इस तरह आप न...

साहब—(क्रुद्ध होकर, उद्धत स्वर में) तो समझो कि मैं तुम्हें मार रहा हूँ। यही न ? (काली भयावनी विषाक्त हँसी हँसता है, और भगिमा बदल कर) मेरे पास बन्दूक है...मैं तुमसे मज़बूत हूँ।...मेरे पास न टूटनेवाली साँकल है! मेरे बाजुओ में ताकत है!...और .. मैं आदमी हूँ! इसलिए मैं तुम्हें मरने के लिए मजबूर कर सकता हूँ। समझे ?.. ? ?

बकरा—(क्रोध मे) न भी समझूँगा, तब भी कहना पड़ेगा 'हाँ' क्रूर...खूँखार भेड़िये !!!

साहब—[अपनी जीत पर एक बार जी खोलकर खिलखिलाकर] तुम मरने मे अपना गुमान न मानना, क्योंकि तुम मर नहीं रहे हो, मारे जा रहे हो। मेरा काम होना है, समझे ? तुम्हारी जान सब से सस्ती है, समझे ?? इसलिए तुम मरोगे, समझे ??? ईश्वर के यह पूछने पर कि 'तुम यहाँ कैसे आये ?' तुम सिर्फ यह कह देना—'मैं कमज़ोर था। मुझसे एक मज़बूत आदमी था। उसने

मुझे एक कमज़ोर खिलौने की तरह तोड़ कर फेक दिया। और मैं यहाँ चला आया।'

[दृश्य २]

(ईश्वर के दरबार में। ईश्वर एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा है। बगल में जिब्रील बैठा है जो गिद्ध के बड़े पखो का कलम हाथ में लिये है। और सब कुछ नोट करता जाता है।)

(बकरे के मुकदमे का वक्त आता है।)

ईश्वर—(प्यार के स्वर में) मेरे प्यारे बच्चे, तुम यहाँ कैसे आये ?

बकरा—(अर्द्धचेतन अवस्था में। मर्त्यलोक के एक अकेले सत्य से पराजित होकर कहता है।)

'मैं कमजोर था। मुझसे एक मज़बूत आदमी था। उसने मुझे एक कमज़ोर खिलौने की तरह तोड़ कर फेक दिया; और मैं यहाँ चला आया।'

म का बँटवारा

बाबू सीतलप्रसाद कचहरी से लौटे तो यों भी उनकी त्योरियाँ चढ़ी हुई थीं। आकर उन्होंने अभी मुश्किल से अपनी चारखाने की टोपी और अचकन उतार ही पायी थी कि उनका सबसे छोटा, तीन बरस का बच्चा प्रमोद कुछ मिट्टी खाता और खूब कीचड़ मे सना हुआ आकर उनसे लिपट गया और उनकी अचकन पर कीचड़ के निशान बन गये। पहले तो वह दूर ही से 'हाँ-हाँ' करते रहे और कमरे में बचने के लिए भागने लगे; लेकिन नादान प्रमोद ने समझा कि बाबूजी आज 'हम भागें--तुम छुओ' खेल रहे हैं। वह भी अपने नन्हें पैरों से कमरे भर में दौड़ने लगा। इसके बाद बाबूजी एक गभीर प्रतिमा की तरह खड़े हो गये और उन्होंने आशा की कि उनकी वह मुद्रा कुछ कारगर होगी। पर प्रमोद ने वह कुछ न समझा और लपककर उन्हें कीचड़ में सान दिया। बाबूजी ने उसे खूब डपटकर

झिड़की सुनाई और फिर भी उस अबोध हृदय के न मानने पर, बड़ी कड़वाहट से उसका कान मल दिया और प्रमोद को रोता और 'अम्मां अम्मां' करता छोड़कर बाहर चले गये।

बच्चे को चिल्लाते सुनकर उसकी मा, जो अन्दर चौके मे मछली छौक रही थी, बाहर लपकती हुई आयी और अपने कलेजे के टुकड़े प्रमोद को रोता देखकर आगबबूला हो गयी। उसने वहीं से बड़े छः वर्षीय लड़के विनोद को ज़ोर से पुकारा—विनोद, विनोद इधर चलो। जाओ अपने बाबूजी को बाहर से बुला लाओ।

बाबूजी की अचकन लटक रही थी।

'तुमने मेरे लड़के को क्यो मारा?'

'मेरे मना करने पर भी मुझ पर चढकर उसने क्यों कीचड़ पोत दी?'

'वह बच्चा है, इतना नहीं समझते?'

'अब बच्चे के लाड़-दुलार के मारे रोज़ नयी अचकन कहाँ से आयेगी, जरा सुनूँ तो?'

'फिर भी क्या उस नादान बच्चे को मारकर उसकी जान ले लोगे?'

'क्यों झूठ-मूठ ऐसी बात करती हो? मैंने जान लेने की बात कब कही!'

'यह जान लेना नहीं तो और क्या है? कहने न कहने से क्या होता है?'

'वाह, तुम्हारे जैसे समझनेवाले हो, तो हो गया!'

'हो क्या गया? मैं सब समझती हूँ!'

'समझो चाहे न समझो, इससे मेरा क्या। अगर फिर यही शैतानी करेगा तो फिर पिटेगा।'

'ओपफोह, ऐसा मिजाज ? सातवे आसमान पर !'

'मिजाज नही तो क्या यो ही ! अगर वह तुम्हारे कलेजे का टुकडा है तो उसको क्यो नहीं मना कर देती कि मेरे पास आकर मुझे फिज़ूल तंग न किया करे। मुझे तंग होना नापसंद है।'

'तग होना किसे पसन्द होता है ; भला यह भी कोई कहने की बात है ? पर इसके भला क्या मतलब कि आपने लिया और उसका कान मल दिया। क्या उसकी जान का मोल दो पैसा भी नही है ? दो पैसे में आपकी अचकन पलक मारते धुल आती, या न होता मै ही साफ कर देती ; पर जरा यह बात मेरी समझ मे नही आती कि आपने उसे क्यो मारा ?'

'सीधी बात है। उसने मुझे तंग किया ; मैने उसे मारा। मै अपने आराम मे किसी का साझा नही चाहता, समझी ? आखिर आदमी की तबियत ही तो है।'

जैसे बड़े सीधेपन के साथ बाबू सीतलप्रसाद ने अपनी सफाई पेश की थी ; उनकी पत्नी ने उसकी नकल करते हुए मुँह बनाकर जवाब दिया— ऐसा बुत्ता किसी और को दीजिएगा। मै सब समझती हूँ। आखिर आदमी की तबियत ही तो है, बरदाश्त हुआ, न हुआ ! हुंः। प्रमोद ने कुछ किया और आपकी तबियत पर फौरन हमला हुआ, और फिर चाहे विनोद कुछ भी किया करे, आपकी बर्दाश्त थकना ही नही जानती। क्यो ? ठीक कहती हूँ न ? जरा बताइए तो, क्या यह सब कीचड़ अकेले प्रमोद ने लगाया है ?

इसके पहले कि बाबू सीतलप्रसाद बगलें झाँकने से फ़ुरसत पायें, प्रमोद ने उँगली के इशारे से बतला दिया कि उसकी करतूत कहाँ-कहाँ लिखी हुई है। और विनोद साहब ने भी यह देखते हुए कि सारा कीचड़ पोतने का श्रेय प्रमोद लूटे लिये जा रहा है, बड़े गौरव से अपने निशान बताते हुए कहा— बाकी यह सब तो मैने लगाया है।

अब बाबू सीतलप्रसाद का मुँह फीका पड़ गया; लेकिन जैसे उन्होंने अपने बचने के लिए ढाल ढूँढ़ निकाली—अरे, प्रमोद ने जब पहले अचकन सान ही दी तो फिर बचा ही क्या? मैने कहा, अब बचने से क्या? लग जाये जितना लगना है।

'मै यह पुरान खूब समझती हूँ। यह सवाल लग जाये जितना लगना है का नहीं है, बल्कि प्रमोद और विनोद का है। इसे आप मुझसे छुपा नहीं सकते।'

'तो भई, मै छुपाना चाहता कब हूँ? अगर तुम्हारा कलेजे का टुकड़ा प्रमोद है तो ठीक है, समझ लो कि मेरा विनोद है। इसे मैं छुपाता ही कब हूँ और अपनी बात न तुम ही छुपा सकती हो, चाहे कुछ करो...'

उनकी पत्नी ने जलकर राख होते हुए कहा—आप जो चाहे कहे, पर मैं ऐसी कमीनी नही हूँ। खैर पूछूँगी फिर...।' और उसने मन मे कुछ कसद कर लिया।

फिर उसने प्रमोद की तरफ देखकर कहा—क्यों जाता है वे, दूसरे दरवाजे लात खाने? एँ? मै मर गई थी जो वहाँ चला? बडा गोल-गोल लड्डू रखा था न? पड़ गई लात तो चला आया रोता.....

फिर उसने नाराज होकर उसे एक चपत मार दी और प्रमोद ने नये सिरे से रोना शुरू कर दिया।

दूसरे पल उसे पुचकारकर माँ ने कहा—जाने दे बेटा, इन लोगो को। ये बुरे लोग है। चल, तुझे अच्छी तली हुई मछली खिलाऊँ। विनोद भी मछली माँगने आयेगा, तब पूछूँगी उससे—बदमाश छोकरा! गली-गली मारा-मारा फिरता है, है न बेटा?

बाबू सीतलप्रसाद ने भी जैसे को तैसा किया—चलो बेटा, तुम्हे पुन्नू बाबू के यहाँ से लेकर चाकलेट और लेमन ड्रॉप्स खिलाऊँ। जाने दे इनकी

सड़ी हुई मछली। कैसी बदबू आती है। प्रमोद भी चाकलेट माँगने आयेगा तब उससे पूछूँगा कि मछली कैसी बनी थी। है न पिद्दा वह ! लगता है बात-बात पर रोने...

विनोद बाबूजी के साथ बाहर चला गया और प्रमोद माँ के साथ-साथ चौके मे।

भला बच्चे की तबियत मछली खाये बिना कैसे माने ? वह आध घंटा बाद चौके मे गया और बोला—अम्माँ, मुझे भी मछली खाने को दो...

अम्माँ ने तेवर बदलकर कहा—अब आया है बड़ा अम्माँ का सगा बनने ! अभी तो टिल्ले पर चढ़े घूमते थे। जा, भाग जा। तुझे मछली खाने को नही मिलेगी। चबाता क्यो नही अपना चाकलेट-फाकलेट !

विनोद मचल गया और जमीन पर लोटकर रोने की तैयारी करने लगा।

माँ ने और बिगड़कर कहा—रो, रो, हरामजादे ! न तुझे यही मछली के काँटे चुभाये तो तू भी क्या कहेगा।

विनोद इस डर से कि कही माँ अपनी इस धमकी को कार्यान्वित भी न करे, उठकर बाहर बाबूजी के पास पैरवी करने भाग गया। शायद माँ ने उसे कभी चिकोटी वास्तव मे काट ली थी।

प्रश्न

रात का निपट अँधेरा छाया हुआ था। मैं कमरे में सो रहा था। कमरे की खिड़कियाँ खुली हुई थीं और ठंडी हवा छनछनकर आ रही थी। एकाएक बिजली चमकी और मैं चौंककर उठ पड़ा। खिड़की से झाँककर देखा, घने बादल आसमान में छा आये हैं, बादल गरज रहे हैं और मेरे देखते देखते पानी भी मोटी धार में गिरना शुरू हो गया। फिर एकाएक बिजली जबरदस्त ताकत से चमकी और मुझे दीख पड़ा, बाग में एक नन्हा सा फूल उग रहा है। रङ्ग उसका पूनो का चाँद है और उसके सौरभ में सदियों की व्यथा निहित है।

इस तरह अँधेरा तो छाया ही रहा, फिर मैंने आँखें फाड़कर देखा, उस हँसते चाँद-से फूल के चारों तरफ़ एक काला मोटा साँप आकर लिपट गया। कुछ देर वह शिथिल-सा पड़ा रहा। फिर उसने अपना दीर्घ फन उठाया और फूल को ओठ पर डस लिया। बिजली चमकी। बाग [illegible]

बुरी तरह सिहर उठा और थोड़ी ही देर मे जहर से नीला पड़ गया। साँप उसकी टहनी से झगड़ता ही रहा और उसने एक बार फिर फूल की कोमल पँखुरियों में अपने जहरीले दाँत चुभा दिये, क्योकि उसकी तबियत एक बार डसने से भर न पायी थी।

इसके बाद तो जैसे मैंने सुना, उस भुजंगम ने अपनी सफलता पर फूल-कर, डोल-डोलकर, फटी, घर्राती हुई आवाज़ करना शुरू कर दिया।

साँप फूल को घूर रहा था। बिजली की चमक मे उसकी वे दो छोटी सी जहर के मोती जैसी आँखे दीख पड़ती थी।

× × ×

सबेरे निकला तो मैने देखा कि साँप का कही पता नहीं है और फूल उसी प्रकार निर्द्वन्द्व हँसता जा रहा है।

अब तक जहर का नीलापन भी आकर उस हँसी मे समा चुका था। उस दिन मुझे यह अनबूझ प्रश्न लगा था।

आदर्श और तथ्य की कोर में भी शायद यही प्रश्न है। वह आदर्शवाद क्या जिसमे तथ्य का तीखापन आकर एकरस न हो जाय?

आकर्षण

मुझे देखते ही एक अभिन्न कलाप्रिय दोस्त ने मुँह मे दबे चुरुट को चूसते हुए...

'हमारे बीच एक ऐसी समस्या है'...मुँह में दबे चुरुट को रति के साथ चूसते हुए उन्होने कहा—तुम जानते ही हो, मै कविता पसन्द नहीं करता। मैं यथार्थवादी हूँ। इसी हेतु मै वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहता हूँ कि समस्त सौरमंडल एक शाश्वत सनातन आकर्षण की डोर से बँधा हुआ है; जिस पल भी यह आकर्षण मन्दा पड़ेगा और छुट जायगा, तारे और चाँद और सूरज और बिजली, लाल, हरी, नीली, पीली बिजली सब एक दूसरे से जा टकरायेंगे और गन्धक की तरह दम घोंटनेवाले, मिर्चे की तरह तीते और पिसे काँच की तरह भँभोड़नेवाले धुएँ से वायुमंडल कराहने लगेगा। यही बात हमारे लिए भी लागू है। साथ ही आप जानते ही होंगे,

न्यूटन की थियरी आफ ग्रैविटेशन भी तो यही कहती है। यह आकर्षण शाश्वत है ; चिरन्तन है, सारे जीवन का मूल आधार है...

और इतना सब एक साँस में ही कहते हुए वे मुझे अपने बहुत सुरुचि के साथ सजे हुए कमरे में घसीट ले गये और हमारी बहुत बार की पहचानी हुई तसवीर को दिखलाते हुए बोले—

इसे तुम फिर देखो। इसकी आत्मा को तुम पहचानो। इसका आकर्षण आज और कल से परे है, इसका सन्देश त्रिकाल के लिए सदा एक-सा है, इसकी आँखों की नीली गहराई में त्रिकाल की व्यथा है। इसकी नागिन-सी लटों से निकलती हुई सुगन्धि सदा योंही बहा करेगी, इसके अवयवों का यह उर्वशी रूप सदा योंही बुलाता रहेगा। संसार में जो कुछ भी श्रीमंदिर है, रूप-मधुर है, सब यहाँ आकर इसमें मिल गया है। मैं चाहता हूँ, तुम इस सत्य को पहचानो कि आकर्षण शाश्वत है।

शाश्वत शाश्वत शाश्वत।

मैंने मानने से इनकार किया।

× × ×

कोई तीस बरस बाद एक साठ साल का बूढ़ा एक तीस साल के नौजवान से झगड़ रहा था—

'हुँः, क्या मतवालेपन की बातें बकते हो? इस ठठरी में, कंकाल में तुम मुझे सौंदर्य देखने को कहते हो?'

'आप कहते क्या हैं? आपका चश्मा तो नहीं बिगड़ गया है?'

'इस कंकाल में, ठठरी में जिसके हर खँडहर से धोखे और दगा की सदा आती है, तुम मुझे सौंदर्य देखने कहते हो? आकर्षण? और सो भी शाश्वत?'

'आप कहते क्या है ? देखिए इसकी नागिन-सी लटें। इसकी मछली-सी आँखें, जिनकी नीली गहराई मे त्रिकाल की व्यथा है। देखिए इसके फूल-से हाथ, कमल-से पैर, सुराही-सी गर्दन, महीन कमर। देखिए, देखिए।'

'क्या घास-खाई-सी बातें करते हो ? आकर्षण शाश्वत ; शाश्वत आकर्षण, हुँः। मुझे यह सब न सुनाओ, न सुनाओ।'

'वह न्यूटन का सिद्धान्त ?...आपका चश्मा ? उसे आप ठीक करा लें। वरना आज आप कैसी बहकी हुई-सी बातें करते है ? यह सब, ये देखिए बारीक अक्षर में, आपके ही शब्द है!'

'मेरे ? मेरे ? मै ? मै ऐसी बेवकूफी नहीं करता। किसी और ने मेरे दस्तखत...'

'ऐसा भला कहीं हो भी सकता है ?'

'उफ, जिद न करो, शुचि ! यह मेरा लिखा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, मुमकिन ही नहीं।...ये मरे बैल की-सी आँखे, बाल गोया हैवानियत के छत्ते...जिस्म के अजों-अजो की यह जकडन, गर्दन की जकड़न, चारो तरफ वही जकड़न, ऐंठन, और तुम इसे सौंदर्य कहते हो। हुँ ! शाश्वत आकर्षण...शाश्वत...।'

और यह कहने के साथ उसकी आँखे सुर्ख और चेहरा राख के रंग का स्याह होता जा रहा था, एक विषण्ण भाव का साया शायद...। शायद नहीं।

'तुम यह नहीं कह सकते, शुचि ! यह तुम हरगिज नहीं कह सकते। तुम्हारा यह मतलब नहीं हो सकता। वह मेरी लिखावट नहीं है। हरगिज नहीं, शुचि, हरगिज। मैं जानता हूँ।'

...और इसके साथ ही मेरे सामने कोई तीस बरस बाद की एक तसवीर धुँधली और कुहासे मे भरी दीख पड़ी, जिसमे आज का शुचि, बूढे

को कुहनियो से ढकेलकर, उसकी जगह जाकर खड़ा हो गया है।...लड़ी के ये दाने शायद योंही सम और विषम होते हैं...बूढ़े की डबडबायी आँखें, युवक की उल्लास से नाचती मुद्रा। पल भर के फेर से युवक आगे बढ़कर बूढ़े की जगह जा खडा होता है और युवक की जगह कोई और ले लेता है...।

× × ×

कुछ सप्ताह बाद, मालकिन से नौकरानी ने एक बहुत बडी बात कही थी—

बहूजी, घर के चूहे बड़े ढीठ है। बड़े भैया की तसवीर तक न छोड़ी। एक छोर से दूसरे छोर तक कटी पड़ी है। तो इन चूहों का कुछ इतज़ाम करो न, बहूजी!—मैंने ऊँघाई की हालत मे नौकरानी को यह कहते सुना।

चूहे? चूहे?...हाँ, हाँ, ठीक तो है। मै आपसे पूछता हूँ कि क्या आप कभी चूहेदानी मे फँसे हुए चूहे की फुँकी हुई आँख मे गौर से डूबे हैं?...तो आप मानेंगे कि ऐंठी हुई मासपेशियाँ, मरोड़ी हुई गर्दन और आकर्षण समानार्थी नही है। जैसा शुचि ने कहा, बात केवल चश्मे की है।

———

जब अक़्ल जुंबिश करती है—

"मै एक बहुत पैसेवाले घर मे पैदा हुआ हूँ। दुनिया मे अमीर और ग़रीब तो होते ही हैं और चूँ कि ईश्वर के पाजामे मे पॉव घुसेड़ने की लिप्सा मेरी नहीं है, इसलिए मैं अपनी-सी ही स्थितिवाले कुछ सेंटिमेंटल लोगों की तरह बेतुकी बातें बकते रहना नापसंद करता हूँ। इसे सब मालूम नही क्या कहते है, मुझे तो किशोर ने बतलाया भी था ; लेकिन मैने कहा—ऐसी निकम्मी अप्रासंगिक चीज़ याद रखने की तरद्दुद कौन उठाये। जब मेरे दोस्त कान्शंस की दुहाई देकर कहते है कि कान्शंस मे यह ऊँच-नीच की खाई देखकर कुरेदन होती है, यह होती है, वह होती है, तो मुझे लाचारी दर्जे हँसी आ जाती है, क्योकि मैने कहीं पढ़ा है कि कान्शंस उस इलैस्टिक की तरह होता है, जिसे बच्चे खेल मे खींच-खींचकर ढीला कर देते है। आप देख ही रहे है कि मै पढ़ा हुआ भी हूँ। आपके इसी कान्शंस को लेकर मेरी एक दूसरी साहित्यिक उपमा भी है : मेरी सूझ है कि कान्शस ख़च्चर के

नस्ल की है , यानी इस पर जितना ही लादो, उतना ही इसकी बोझ ढोने की ताकत बढती है और जितना ही नर्मी से पेश आओ और आराम करने दो, उतनी ही मुटमर्दी हरामजादी को सूझती है और वह कामचोर हो जाती है। पर जान पड़ता है, मेरी ये दोनो ही उपमाएँ चिकने घड़ों पर ही पडी, क्योंकि किशोर, बालकृष्ण और ज्ञानप्रकाश बौड़म से मेरा मुँह ताकते रहे। सब मुझसे कहते है कि अगर तुम पढ़े और सुसस्कृत आदमी हो, तो तुममे इस सर्वव्यापी अधेरखाते के खिलाफ़ क्षोभ भी उठता होगा। लेकिन, हाय राम, मै तो इन भुखमरे, अधकच्चरे ज्ञानियो से तंग आ गया हूँ, जो सिद्धात बनाते फिरते हैं, मानो यह भी लेमनचूस खाने की ही तरह आसान काम हो। सोचिए न, आप ही सोचिए न, अब भला मैं अपने को क्या कहूँ, जो कि शिक्षित हूँ और किसी क्षोभ-वोभ का शिकार भी नही। और क्षोभ भला हो भी क्यों ? मुझे और कुछ न चाहिए। मेरी चाय मे एक सेकंड की भी देरी न हो, मेरा खाना ठीक वक्त पर मेज़ पर सजा मिले, मेरा सिगरेट का बक्स हमेशा मुहॉमुँह भरा रहे और ऐसी ही कुछ बातो के टिपटाप रहने पर मुझे और कुछ न चाहिए। क्षोभ किस चिडिया का नाम है ?—

"अभी मेरे यहॉ बडे जशन के साथ मेरी छोटी बहिन की शादी हुई है। दिन-रात बैठकर रेडियो-ग्रामोफोन पर ही कान खपाया किया। सैकड़ों चूडियॉ बजा डाली और रेडियो पर दुनिया कोने-कोने की सैर कर डाली। यह सिलसिला कई दिन रहा। आखिरी दिन हम सभी एक साथ बैठे हुए थे—लेकिन आपका पूछना जायज है कि इन बेसिर-पैर की डिटेल्स का क्या महत्त्व ?' ठीक है, मै वास्तव मे आपको एक वारदात सुनाकर उस पर आपकी राय लेना चाहता हूँ, क्योंकि उसे मै खुद समझने मे नाकाम रहा। हॉ, तो आखिरी दिन हम सभी एक साथ बैठे हुए थे।

घण्टो से बाजा बजता रहा था। कह ले कि वातावरण ही रेडियोमय हो गया था। मालूम नहीं, क्या अल्लम-गल्लम सुनते-सुनाते मै न जाने कब सो गया। देखता क्या हूँ कि एक बर्फानी सुफेद आकृति, ज़मीन पर लसरता हुआ चोगा पहने रेडियो के पीछे से निकली। कोई दो मिनट भौचक होकर इधर-उधर देखती रही, फिर रेडियो सेट करके दिवाल में समा गयी। रेडियो बोलने लगा—

"...पूँजीपति ने आज अपने से ईर्ष्या करना छोड़ दिया है। अपने धन के अंबार की बचत को छोड़कर उसकी कल्पना और कही नहीं जाती। उसकी स्पर्द्धा अब बाहर न फैलकर अपने जागरण से लोहा लेने मे खर्च होती है। जिसमे उसके अन्दर क्षोभ भट्ठी न सुलगा ले, वह अपने को यह बात समझाने की जी-तोड़ कोशिश करता है कि उसके भीतर क्षोभ का एक रेशा, एक ज़र्रा भी नहीं है और ऊपरी गर्व से वह पूछता है, 'क्षोभ किस चिड़िया का नाम है?' लेकिन अपने अन्दर से ही उठनेवाले जवाब को सुनकर उसकी घिग्घी बँध जाती है। क्षोभ किस चिड़िया का नाम है, यह बतलाने के लिए एक घटना की ओर, जो इसी नगर मे कुछ दिन पहले हुई है, सकेत करना अप्रासगिक न होगा। एक व्यक्ति ने अपने को क्षोभ से मुक्त साबित करने के लिए, वास्तव मे क्षोभ से ही कुरेदे जाने पर आत्महत्या कर ली और "मुझे तनिक भी क्षोभ नहीं है"—इस आशय का एक पुर्ज़ा अपनी जेब मे छोड़ गया—आ हा हा हा, लोग भी क्या ही दिलचस्प हुआ करते है। यह बात कविता जैसी मालूम पड़ती, प र इसका संकेत एक बड़े तथ्य को ओर है : कि पूँजीवाद एक चौखटे का नाम है। व्यक्ति गर्भाधान के साथ ही उस चौखटे मे अच्छी तर ह जड़ दिया जाता है। और इस तरह व्यक्ति का विकास उस चौखटे की परिधि से नर्दिष्ट होने लग जाता है। यह चौखटा भी किसी-न-किसी दिन—

जल्दी ही टूटेगा, क्योंकि कालान्तर मे उसका काठ भी पुराना और दीमक-ग्रस्त हो जाता है, पर यदि अकेला व्यक्ति या व्यक्तियो का छोटा समूह, ऐसा होने से पहले ही चौखटे का नियंत्रण भेदना चाहता है, तो उसे एडी-चोटी का जोर लगाकर उस चौखटे को चीरते हुए निकलना होगा। ऐसा करने मे बदन का लहूलुहान हो जाना सहज और स्वाभाविक है। उस आत्महन्ता ने भी यही स्पष्ट कर दिया है..."

इस अन्तिम वाक्य के साथ जब मेरी नींद टूटी तो बालकृष्ण कह रहा था—"हो काफी लगो आदमी। इस एक घण्टे मे हमने बेहतरीन गाने सुने और तुम सो रहे थे।"

मैने बौखलाहट के से स्वर मे कहा था—"पहले एक बात तो बताओ, क्या अभी हाल किसी ने सुईसाइड किया है?"

"नही तो। लेकिन कुछ कहो भी तो, बात क्या है? इतने परीशान क्यों नजर आते हो? कोई बुरा .ख्वाब तो नही देखा?"

इस पर मैंने सारी बात उन्हे अथ से इति तक सुना दी।

तब ज्ञानप्रकाश ने कहा—"खूब! सपने की भी भली चलाई। दिन मे यो गडबड मति लेकर सोने से बुरे सपने दिखायी देते ही है—"

उसने भी शायद शुतुरमुर्ग की चाल चलते हुए कोरस मिलाकर कहा—"सपना है तो आखिर सपना ही—"

"सपने भी काफी अनर्गल होते है।" उसने धीमे से जैसे अपने को ही समझाते हुए कहा, और खिझी आवाज़ में नौकर को पुकारा—"छोकरा, छोकरा, कहाँ मर गया हरामजादे, छोकराऽ ऽ ऽ ऽ ऽ'

फूटी थाली का-सा उखड़ा उखड़ा स्वर देर तक हवा मे गूँजता रहा...

कलाकार

ठिठुरन गिर रही थी। ऐसा लगता था, जैसे सब कुछ अपने ही मे ऐंठा और सिमटा जा रहा हो। मुर्दे के कफन की-सी निःस्तब्धता हर ओर फैली हुई है। कोई आवाज़ नहीं हो रही है, कभी कभी एक कीड़ा कुछ डरा डरा सा टिटर कर रहा है। उसी से निःस्तब्धता अंशतः भंग होती है और फिर दोहरी हो पड़ती है।

तीन महीने से सूरज नहीं निकला है, और इस बीच बर्फ़ लगातार गिरती रही है। इस वक्त धरती पर उसकी बड़ी मोटी तह जमी हुई है और पेड़-पत्ते भी उसमे कुछ डूबते-उतराते-से खड़े है। उस बर्फ़ की गहराई तो उन्ही स्थलो पर मालूम पड़ती है, जहाँ किसी विशेष दबाव के कारण गढ़ा हो गया है और नीचे का पानी ऊपर सतह पर आ गया है। सिर्फ पैर धँस जाने से आदमी गले तक अन्दर चला जाता है और फिर मेहनत करके निकल पाता है।

: कलाकार :

पतझड़ के आखिरी दिन है, क्योंकि पीले पत्ते भी अब पेड़ में न रहकर उस चट्टान पर फैले पडे हैं ऐसे जैसे तरल रॉगे पर सोना। जो पेड़ हैं वे ठूँठ हो गये हैं और उनका हाड़ दिखता है और ऐसा लगता है कि जैसे वे उन पीले पत्तों के लिए रो रहे हो, जो घर छोड़कर अनजान चट्टान का सहारा लिये पडे है। पर वे मूक, निःस्तब्ध, अचल और स्थिर है, क्योंकि इस सारे दिन रुई जैसी बर्फ़ गिरी है और पानी मे डूबी प्रकृति डरी हुई है।

चींटियो के मकान अपने मे खुश खड़े है, क्योंकि उनके सारे दरवाजे बन्द है और उन दीवालो के अन्दर जलती हुई आग से उनको खुशगवार गर्मी मिल रही है, और दूर-दूर तक फैली हुई बर्फ़ उनको गला नहीं सकती। ठण्ढक बेहद पड रही है। यहॉ तक कि सारे दरवाजे बन्द रहते हुए और लाल अगारे धधकते हुए भी एक नन्ही चींटी को सरदी के मारे सिकुडन मालूम पडी और उसने अपनी मॉ से कहा—मॉ, मुझे बड़ी सर्दी लग रही है। कभी और भी हमारे देश मे ऐसी सर्दी पडी थी ?

उसकी मॉ ने इसका कोई उत्तर देना उचित नही समझा और चुपके से उठकर अँगीठी पर गरम होता हुआ पानी उठा लायी, उस बच्ची को गरम स्नान कराया और तीन मोटे कपड़ो मे लपेटकर सुला दिया। चींटियो की दुनिया मे इस समय सब मीठा और सुवासित खाना खाकर सो रहे है।

इसी वक्त एक कैटरपिलर हाथ मे वायलिन और उसकी छडी लिये, रात के इस पहर मे उसी बर्फीले दलदल मे घूम रहा था। सब कुछ अँधेरा है। कैटरपिलर के पैर बार बार अंदर चले जाते है और उसका दो सौ चार बार पेगड़े लगाया हुआ छः वर्ग इञ्च के चारखाने का मोटा पतलून भीग जाता है, और अब वह इतना भारी हो गया है कि जोर लगाने से उठ पाता है और दूसरे ही पल फिर उसी दलदल मे चला जाता है,

जब [illegible] गी ताक़त लगानी पडती है। इस तरह करते करते वह एक मील [illegible] है। उस जकड़ देनेवाले शीत मे भी वह पसीने मे डूबा हुआ है। पतझड मे वियोगी मालकोस को महीन तार पर खींचते-खींचते उसे तीन महीने कुछ सुध न रही। उसके बाल बहुत नीचे तक चले आये है और अजब बीहड़ मालूम पडते हैं। उसके जूते बर्फ से भारी है और नये नही कहे जा सकते। टाट की उसकी कमीज, जिसका कालर विचित्र है, भारी हो रही है और अब पानी की मोट की तरह हो गयी है।

ऐसे बेढंगे समय मे वह इस तरह क्यों भटक रहा है, इसे यदि हम बतलाना चाहें तो बहुत समय लगेगा। पर उसके साथ शायद ऐसा हुआ कि जब पतझड में पहला पत्ता पीला पडा तो वह अपने डेरे पर से निकल पडा, क्योंकि मालकोस मे दर्द है, और वायलिन और गिटार पर उस राग को बजाने मे उसे विशेष सुख मिलता है, क्योंकि वह भावुक है, और कलाकार है, इसलिए अतीत का पुजारी है और पुराने घाव को हरा कर देना उसे अच्छा लगता है।

अभी तो पहला ही पत्ता पीला हुआ था, पर अवसाद की रेखा दौड़ने लग गयी थी। कैटरपिलर निकल पडा, और चलते-चलते एक पुराने बरगद के पेड पर पहुँचा।

उसने बरगद से पूछा—मै यहॉ बैठकर वायलिन बजाना चाहता हूॅ। आपकी आज्ञा है ?

बरगद ने सिर हिलाकर उत्तर दिया——तुम बजा अवश्य सकते हो, और जब जाना हो चले जाना, पर मेरे यहॉ खाने को नही है।

कैटरपिलर ने इसे शायद सुना ही नहीं कि यहाँ खाना है भी या नहीं, क्योंकि कलाकार को खाने की चिन्ता नही होती। और वह कलाकार था। वह आज्ञा पाकर उसी पल वायलिन लेकर बैठ गया और वायलिन के

तार मिलाने लगा। और उँगली बढाकर तारो को कसने के लिए उसने खूँटियाँ ऐंठी।

'पतझड़ का पहला ही पत्ता तो अभी पीला हुआ है, और वायलिन मेरे हाथ मे है।' कैटरपिलर ने कहा।

कैटरपिलर ने वायलिन के तार मिला लिये और जब उसने पहला स्वर निकाला 'सरेगम' तो ऐसा लगा कि पुराने बरगद की मोटी डालो से गूँज-कर और वहाँ घोसलो मे सोती चिड़ियो को थपकी देकर लौटा 'सारेगम'। आवाज मे बडी गूँज है और बहुत दर्द। और पतझड़ मे मालकोस, और मालकोस मे दर्द ही तो खास चीज है।

कैटरपिलर मालकोस निकालता रहा, निकालता रहा। कितना वक्त जाता है, इसका उसे बोध न रहा, क्योंकि वह मालकोस बजाता रहा और पतझड़ मे मालकोस विशेष राग होता है और वही वह उन तारो को बोलने के लिए कहता रहा है।

कैटरपिलर ने सोचा—मालकोस राग की ताकत तो तब जान पड़ती है, जब पीला पत्ता उड़कर बर्फ मे आकर हमेशा के लिए सो जाय। उद्वेग इतना हो कि वह कटकर गिर पडे।

अभी थे तो बहुत-से पीले पत्ते, पर कैटरपिलर ने सामने के पेड़ मे एक पीला पत्ता देखा।

फिर उसकी एक ऑख वायलिन के तार पर थी, और दूसरी उस पीले पत्ते पर। उँगलियाँ उसकी दौड रही थीं और एक से एक ऑसू घुमडानेवाली गतें निकल रही थी। वह पसीने से तर हो रहा था, उँगलियाँ हमेशा की तरह दौड़ रही थी।

उसकी एक ऑख पीले पत्ते पर थी, एक वायलिन के तार पर।

कैटरपिलर बजाता रहा, बजाता रहा। उसने समय की संज्ञा खो दी, स्थान की सज्ञा खो दी, वह तो केवल बजाता रहा और उसकी एक ऑख पीले पत्ते पर थी और एक वायलिन के तार पर। क्योकि मालकोस की ताकत ही इसी मे है कि पीला पत्ता बर्फ पर हमेशा के लिए सो जाय। शाम और रात बीत जाती थी। इस तरह कई सप्ताह बीत गये। उसे कोई चेतना अवशिष्ट न थी। पीला पत्ता हिल हिल तो पड़ता था पर गिरता नही था।

बजाते-बजाते आज दो महीने हुए, और कैटरपिलर ने अपनी उस एक लगी हुई ऑख से देखा कि उस पत्ते का एक टुकडा मालकोस के दर्द से कटकर गिर पडा।

उसकी ऑख उसी तरह लगी रही और उँगलियॉ उसी तरह दौडती रही। उन तारो मे से आसमान को चीरनेवाली हूक उठ रही थी। 'और मालकोस मे यही हूक तो है जो मुझे पतझड़ मे विशेष सुहावनी मालूम देती है' कैटरपिलर ने कहा। कैटरपिलर की मासपेशियॉ कडी हो गयी, ऑखे निकल-सी आयी और सॉस बैठने लगी।

फिर कुछ दिन तान उठती रही, और एक महीना और बीत गया। पीला पत्ता अभी कटा न था, पर उसकी सास का सूत टूटने को आया। पर वह बजाता ही रहा, क्योकि पतझड मे मालकोस विशेष राग होता है और वही वह निकाल रहा था। कैटरपिलर झूमता हुआ बजा रहा था—तन्मय।

ऊपर पुराने बरगद की डाल पर गिलहरियॉ कुछ कुतर और कुछ धरती-उठाती दौड रही थी। उनमे से एक युवती गिलहरी का किसी से प्रेम था और प्रेमी कही परदेस था। मालकोस के दर्द से उसे एक विचित्र दर्द की गुदगुदी मालूम पड़ी। कैटरपिलर के साथ झूमती-झूमती वह भी बहुत देर तक सुनती रही और उस वायलिन के पतले तार के खिचने पर वह उस ध्वनि के साथ रो-रो पडती थी।

: कलाकार :

गिलहरी ने आकर कहा—भाई कैटरपिलर, तुम यह राग न बजाओ इससे मुझे चोट पहुँचती है ।

गिलहरी को ऐसा लगा कि जवाब में कैटरपिलर ने बजाकर ही कहा—गिलहरी बहन, मैं क्या जानूँ किसे विछोह है किसे संयोग ? मैं संसार में किसी के निमित्त तो बजाता नहीं जो उसका लेखा रखूँ । पतझड़ के पीले पत्ते उड़ रहे हैं । मालकोस राग पतझड का विशेष राग होता है । मुझे बरगद के नीचे बैठकर मालकोस बजाने में बड़ा सुख मिलता है । मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ और इसलिए केवल अपने ही लिए झूमता और उँगली दौड़ाता हूँ । यदि मैं अपने लिए बजाऊँ और इससे किसी को चोट पहुँचे तो इसमें मेरा दोष क्या ?

गिलहरी को लगा था कि कैटरपिलर ने उसे उत्तर दिया था, पर कैटरपिलर की एक आँख तो पीले पत्ते पर थी जो आधा कट चुका था, और एक वायलिन के तारों पर, और चारों उँगलियाँ दौड़ रही थीं, और वेदना वहाँ से निकलकर बह रही थी । समस्त निस्तब्ध जगत् रो सा रहा था । पर कैटरपिलर को इसकी संज्ञा न थी । उसने देखा पीला पत्ता अभी वहीं पर है । उसने उँगलियाँ दूने जोर से दौड़ाया, और उस ध्वनि के साथ झूमता-झूमता जमीन पर जा रहा । नीरव जगत और भी नीरव हो गया । एक तरल सोते की-सी वेदना बही और समस्त चेतना उसी में डूबने उतराने लगी ।

पुराने बरगद ने भी मानो अपनी सफेद दाढ़ी में उँगली छिपाते हुए कहा—कितना दर्द है !

पर कैटरपिलर ने देखा कि पीला पत्ता अभी वहीं पर था । उसकी मांसपेशियाँ अकड़ गई थीं और आँखें निकली आ रही थीं । साँस उसकी बैठ रही थी । पर उसे तो अभी बजाते जाना होगा, क्योंकि पीला पत्ता

अभी गिरा न था। और मालकोस की ताकत इसी मे है और वही वह बजा रहा है। 'और पतझड मे मालकोस और मालकोस मे दर्द ही तो खास चीज है।'

कैटरपिलर की अकड़ी हुई उँगलियाँ और तेज़ चलने लगीं। विद्युत् का-सा वेग उसकी उँगलियो मे था।

अपना सारा हृदय का रक्त देकर वह बजाने लगा। वायलिन का सिरा उसके सीने मे गड़ गया, और ख़ून बहने लगा। कैटरपिलर ने चलकर रुकना नही सीखा है। खून गिरता गया, चेतना भी लुप्त हो चली, कपड़े उसके उड़ने लग गये और फिर अनेक जगह से फट गये। पर वह बजाता ही रहा। क्योकि वह पत्ता अभी वही था। और कलाकार हार मानकर रुकना नही जानता।

वायलिन के दो तार टूट गये। पर कैटरपिलर को इसका बोध न था। क्योकि उसकी एक आँख तीन चौथाई कटे पीले पत्ते पर थी और एक बहते हुए खून पर; क्योकि उसी गिरे हुए लहू से वह अपना दर्दनाक राग खरोंच देना चाहता था!

वह बचे हुए एक ही तार पर बजाता रहा। फिर कितने दिन और बीत गये, यह न जानते हुए उसकी लगी हुई आँख ने देखा कि वह एक चौथाई पीला पत्ता अभी गिरा न था और मालकोस की ताकत इसी मे है। और वह पतझड़ मे उसे ही बजा रहा था। 'और पतझड़ मे मालकोस और मालकोस मे दर्द ही तो खास चीज है।'

बाकी बचे हुए ख़ून ने एक बार फिर धमनियो को बेतहाशा दौड़कर फाड देना चाहा। अकडी उँगलियाँ और भी अकड़ गयी, फिर उसने देखा, वह बाक़ी पत्ता भी एक बार बड़े ज़ोर से हिला और मालकोस के दर्द से कटकर गिरा और बर्फ की चादर ओढ़कर हमेशा के लिए सो गया।

कैटरपिलर के हाथ से वायलिन छूट कर गिर गयी, बो अलग जा पड़ी। आवेग कम हो गया। पेशियाँ ठण्डक पाकर जकड़ गयी। कैटरपिलर वही मुर्दे की तरह सो रहा ...वायलिन और बो उसके दो तरफ़ थी।

कैटरपिलर ने जब फिर अपनी चेतना सँभाली, शीत अपना पूरा काम कर चुकी थी। उसका शरीर अकडकर बेकाम हो गया था। उसने अपने को किसी तरह उठाया और घसीटते-घसीटते उस ओर को ले चला, जिधर उस सारे फैले हुए अंधकार के बीच रोशनी दिख रही थी। वे चीटियो के महल थे अपने मे खुश, क्योकि वे गर्म थे और बर्फ उन्हे गला नही सकती।

उस बर्फ के बीच वह रोशनी बडी भली मालूम पडती थी, और कैटर-पिलर उसी को देखता आगे बढता जा रहा था।

वायलिन पर उँगलियाँ दौड़ाते-दौडाते तीन महीने का वक्त निकल गया, पर इस बीच कैटरपिलर को भूख नही मालूम पडी, और इस लिए बुड्ढे-पुराने बरगद का कहना भी उस पर बेकार गया। तीन महीने तक भूख-प्यास सब छुटी हुई थी। पीला पत्ता झर पडा। मालकोस खतम हो गया और उसे एक बार सोचने का मौका मिला कि उसे भूख लगी है।

इस समय वह कैटरपिलर भूख मिटाने की खोज मे निकला है। मारे भूख के उसकी आँते निकली पडती है। वह एकदम निर्जीव पडा है। और उसकी गति धीरे-धीरे बद हो रही है।

उसे सिर्फ दूर पर जलती रोशनी दिखलाई पडती है जो उन मकानो की लैटिस से छनकर आ रही है, जिनके अन्दर का चीटी-लोक महँगे और स्वादिष्ट पदार्थ खाकर अगारो से गर्म किये हुए कमरो मे, मोटे कंबलो मे लिपटा मौज कर रहा है। वहाँ सब कुछ—गान-वाद्य हो रहा है। और

उन्हें [illegible] के जाड़-पाले, बर्फ-तूफान से कुछ नहीं करना है। मकान भी [illegible] हैं—क्योंकि वर्फ उन्हे गला नहीं सकती।

कैटरपिलर अपना मोटा पैंट पहने उस रोशनी की तरफ बढ रहा है। उसकी टाँगे बर्फ के नीचे चली जाती है। वह उन्हे जोर लगाकर निकालता है। पर इस कोशिश मे अधेरे मे रास्ते से दूर जा पडता है। रोशनी मदी पडने लगती है, और निराशा उसे घेरने लगती है। रह-रहकर तीर-सा चुभनेवाला बर्फानी तूफान उठता है और वर्फ के छोटे-छोटे टुकडो को उठाकर गोली के छर्रो की तरह मुँह पर मारता है। इस सारे पानी और वर्फ से कैटरपिलर ऊपर से नीचे तक डूबा हुआ है और भारी है। वह छः इच चलता है और चार फुट नीचे वर्फ मे जा धँसता है। दूसरे बर्फानी तूफान के इन छोटे छर्रों से उसकी आँखे मुँदी जाती है। और एक बादल-सा छा रहा है। इन सब कामो से उसे पन्थ नही सूझ पडता, उसका चेहरा भी लहूलुहान हो रहा है, जहाँ उसे बर्फ के तमाचे पडे है। उसकी साँस का धागा बेहद कमजोर हो गया है, और बे भरोसे का है।

पर उसे वही रोशनी दिखायी पड रही है और उसी को देखता वह चला जा रहा है और नही जानता कब पहुँचेगा। वह खाने की बाबत सोच रहा है—उसे बीयर तो कोई देगा नही। न ह्वाइट हार्स। न शैम्पेन। न पोर्ट। अन्दर पसलियो तक समायी हुई ठण्डक कैसे जायेगी।

वह यह भी सोचता जाता है कि अगली पतझड वह मालकोस न बजाकर बिहाग बजायेगा और उस राग से वर्फ चीरकर, पानी का ठण्डा सोता निकालेगा।

उसके पेट मे चारा नही है, और उसकी साँस का धागा कमजोर है। अगली पतझड वह बिहाग बजायेगा। 'भूख तो लगती ही है, पर उसी को सोचकर कलाकार मर तो नही जा सकता न?' कैटरपिलर ने सोचा।

रोशनी का पल्ला पकड़े-पकड़े वह दरवाजे पर पहुँचा और उसने कुडी खटखटायी।

दरवाजा खोलकर अन्दर से एक चींटी निकली और उसने पूछा—क्या काम है? रात को हमारे यहाँ कोई किसी से नही मिलता। चले जाओ।

कैटरपिलर ने सहज भाव से कहा——मैंने चार महीने से कुछ नही खाया है।

इस पर चींटी अन्दर गयी, और अपनी सौ-पचास सहेलियो को बटोर लायी।

उन सबको देखकर कैटरपिलर ने अपनी बात दोहरायी—मैंने चार महीने से कुछ नही खाया है। मै इन सारे दिनो मालकोस बजाता रहा, और खाने की कुछ सुध न थी।

तब चींटियो ने एक साथ मिलकर कहा—अभी मालकोस बजाते रहे है तो जाइए अब बाकी सारे दिन नाचिए। यहाँ आप क्यो आये है?

कैटरपिलर—मुझे कुछ खाने को चाहिए। मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है, चावल का एक कण तक नही। आज तक मै कभी झूठ नही बोला। ओर अगर बोला होता, तो कहीं मेरे मालकोस से पेड का पीला पत्ता कटकर गिर सकता था?

चींटियो की रानी ने राजसी ढङ्ग से कहा—सुनिए महाशय, चींटियाँ सुकुमार जीव है, और इस तरह बर्फ मे दरवाज़ा खोलकर खड़ी रहना पसन्द नही करती है। हमे बेकार का रोना नही चाहिए। अपना काम थोडे शब्दो मे बोलिए।

कैटरपिलर—मै भूखा हूँ। मुझे खाना चाहिए।

राजमहिषी—मै भिखमङ्गो को भीख नही देती।

कैटरपिलर—मै भीख नही मॉगता, देवी, आप भूलती है.....

राजमहिषी—मै कभी कुछ नही भूलती। नही तो इतना बडा राज्य क्या आपकी सारङ्गी पर टिका है ?

कैटरपिलर—आप भूलती है.....

राजमहिषी—इसे पिन गड़ाकर निकाल बाहर करो ; यह बदमाश है।

कैटरपिलर ने सात्विक क्रोध से कहा—ओ हो, क्या कहती हैं आप ? मैं बदमाश नही हूॅ। मै कलाकार हूँ।

राजमहिषी—एक ही बात है।

कैटरपिलर—मै कलाकार हूॅ और आपको मेरा एहसानमन्द होना चाहिए। क्यो होना चाहिए, अभी आपको बताता हूॅ। मैने इस पतझड मे आपको जाडे-पाले मे बैठकर मालकोस सुनाया है। अगले पतझड मे बिहाग सुनाऊॅगा। इसी एहसान की कीमत मै थोड़ा खाना चाहता हूॅ। क्योकि चार महीने से मैने कुछ नही खाया है। बहुत भूखा हूॅ, और मैं झूठ नही बोलता।

राजमहिषी—पर मैने कह तो दिया कि यहॉ भीख नही मिलती।

कैटरपिलर—इसी तरह आप मेरी अनवरत सेवाओ का मूल्य चुका रही है ? इसका मुझे खेद है। मैने इतने दिन आपका मनोरंजन किया, आपको ऑसू दिया, मुसकान दी और आप मुझे सूखी रोटी के दो टुकडे देने से इनकार करती है ? आपको धिक्कार है।

राजमहिषी—आप इतना रोष क्यो करते हैं ? मै कहती हूॅ कि आपने मेरे लिए तो बजाया नहीं, तो मैं आपको रोटी क्यो दूॅ ? आप तो अपने लिए ही बजाते रहे है। तब ? अगर आप हमारे यहॉ आकर थोड़ा-सा माली का काम कर देते तो शायद रोटी का सवाल उठ सकता था। आपने मेरे बर्तन

मॉजे होते तो भी कोई बात थी। पर जब आपने विशेष रूप से मेरे लिए कुछ नही किया, तो मै आपको रोटी क्यो दूँ ?

कैटरपिलर—पर इससे क्या ? आपका मनोरंजन तो हुआ ही है ?

राजमहिषी—पर मै झनकारती हुई झिल्ली के पास तो डबल रोटी का टुकड़ा और पुलाव लेकर नही दौडी जाती ? मनोरंजन तो उसके सङ्गीत से भी होता है। और न मै पतङ्ग के घरवालों का पेट भरने का ही बीड़ा उठाती हूँ, यद्यपि उसे दिये पर गिरकर मरते देखने से भी मनोरंजन अवश्य मिलता है। जैसे पतङ्ग मेरे लिए दिये पर नही मरता, जैसे झिल्ली मेरे निमित्त नहीं झनकारती, और मै झिल्ली को चावल या तुस का कन भी नहीं देती, तब फिर उसी तरह आपको क्यो दूँ ?

कैटरपिलर—पर मैं तो कलाकार हूँ। यदि कोई मुझे खाने को न देगा, तो एक कलाकार की मृत्यु हो जायगी।

राजमहिषी—मरने-जीने के लेखे से मुझे कोई सरोकार नहीं। दूसरे अपने मनोरंजन के लिए तो हम ही पानी उबालते वक्त नहाते वक्त, बच्चे को दूध पिलाते वक्त गा लेती हैं। तुम्हारी ज़रूरत क्या है ?

कैटरपिलर—पर तुम्हारे गीत मे वह दर्द, वह कला कहाँ ?

राजमहिषी—न सही। पर मनोरञ्जन तो कम नही ? फिर यदि हमें दूसरे किसी से मनोरञ्जन लेना है, तो तुम्हे, एक बाहरी को पैसा देने से हमारा क्या फायदा ? अपने ही यहाँ चीटियों मे एक से एक कलाकार हैं। किसी को गितार बजाना, किसी को सितार, किसी को पखावज, किसी को मृदङ्ग बजाना सिखा दूँगी, और किसी को नाच; फिर वे नाचेंगी छूम-छूम। फिर तुम्हे कौन पूछेगा कलाकार महोदय ?

कैटरपिलर—पर आज तो मुझे खाने को दो, क्योंकि मैं बहुत भूखा हूँ, मैंने चार महीने से कुछ नहीं खाया है, और कलाकार झूठ नही बोलते।

इस पर राजमहिषी ने कोई उत्तर न देकर, महल के दरवाज़े झडप-कर बन्द कर लिये।

कैटरपिलर को जवाब मिल गया। वह बाहर ठिठुरता सर्दी में खड़ा था। कैटरपिलर मरता, भूखा, निराश, लड़खड़ाता लौट पड़ा।

उसके शरीर मे ताकत शेष न थी। और कोई जगह भी न थी जहाँ वह लौटकर जाना चाहता ; क्योंकि खाना तो बड़ी दूर तक कहीं न दिखता था। पर वह अपना सूखा हाड़ लेकर चल पड़ा।

उससे बीस कदम दूर एक पीला पत्ता दीख पड़ा। उसने सोचा, उसी से भूख मिटा ले। फिर दूसरे क्षण उसने अपने से प्रश्न किया—क्या मुझमे बीस कदम चलने की शक्ति है?

उसी बर्फीले दलदल मे घिसटता वह इतनी दूर पहुँचा कि अपनी वायलिन बजाने की स्टिक से उस पत्ते को गिराकर मुँह मे ले ले, जो कुछ भी खाने को तैयार था।

उसी दम एक तूफ़ान का झोका आया; कैटरपिलर का हाथ उसे पा लेने को बढ़ा हुआ था ; पत्ता उड़ा और ऑख से ओझल होकर कहीं जा पड़ा।

अपना निकम्मा शरीर लेकर कैटरपिलर वहीं ढेर हो गया। एक बर्फ़ का तूफ़ान आया। और वह शरीर उसके बहुत नीचे जा पड़ा।

उसके शरीर पर ब़र्फ की पहाड़ी, और उसी पहाड़ी पर एक पीला पत्ता, जो हँस हँसकर कलाकार का उपहास कर रहा था!